सोलह भावना

गणिनी आर्यिका
ज्ञानमती

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं.-38

सोलह भावना

–रचयित्री –

भारतगौरव गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि

श्री ज्ञानमती माताजी

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र., फोन नं.- (01233) 280184, 280994

Website : www.jambudweep.org, www.encyclopediaofjainism.com

E-mail : jambudweeptirth@gmail.com,

प्रथम संस्करण	वीर नि. सं. 2547	मूल्य
1100 प्रतियाँ	श्रावण शुक्ला पूर्णिमा, 22 अगस्त 2021	20/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित होती रहती हैं।

-: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :-

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

(दो बार डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत)

-: मार्गदर्शन :-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

(पीएच.डी. की मानद उपाधि से अलंकृत)

-: निर्देशक एवं प्रधान सम्पादक:-

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

-: सम्पादक :-

डॉ. जीवन प्रकाश जैन * प्रतिष्ठाचार्य विजय कुमार जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

प्रस्तावना

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी

अनादि निधन षोडशकारण पर्व वर्ष में तीन बार आता है। भादों वदी एकम से आश्विन वदी एकम तक, माघवदी एकम से फाल्गुन वदी एकम तक और चैत्रवदी एकम से वैशाख वदी एकम तक। इस पर्व में षोडशकारण भावनाओं को भा करके परम्परा से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर सकते हैं। दो सौ ग्रंथों की रचयित्री श्रुत तीर्थ प्रकाशिका गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने शास्त्रों का गहन अध्ययन करके कई वर्ष पूर्व इस षोडश भावना नाम के अमूल्य ग्रंथ को तैयार किया था, उसी का यह द्वितीय संस्करण आपके हाथों में है।

इस ग्रंथ में सोलहकारण भावनाओं का विस्तार से वर्णन है। एक-एक भावना का अर्थ बताते हुए शास्त्रोक्त उदाहरण पूर्वक अच्छी तरह से पूज्य माताजी ने समझाया है।

उन सोलहकारण भावनाओं के नाम इस प्रकार हैं-

(1) दर्शनविशुद्धि, (2) विनयसंपन्नता, (3) शीलव्रतेष्वननितचार, (4) अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, (5) संवेग, (6) शक्तितस्त्याग, (7) शक्तितस्तप, (8) साधुसमाधि, (9) वैयावृत्यकरण, (10) अर्हंतभक्ति, (11) आचार्यभक्ति, (12) बहुश्रुतभक्ति, (13) प्रवचनभक्ति, (14) आवश्यक अपरिहाणि, (15) मार्गप्रभावना और (16) प्रवचनवत्सलत्व ।

इन सोलहकारण भावनाओं में दर्शन विशुद्धि भावना मूल-जड़ है अर्थात् दर्शन विशुद्धि भावना के बिना सभी भावनायें अधूरी हैं। पूज्य माताजी ने दर्शन विशुद्धि का अर्थ लिखा है-

जिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थे मोक्षवर्त्मनि रुचिः निःशंकितत्वाद्यष्टांगा दर्शन विशुद्धिः। अर्थात् जिनेन्द्रदेव के द्वारा उपदिष्ट निर्गंथ दिगम्बर मोक्षमार्ग में रूचि होना और निःशंकित आदि आठ अंगों का पालन करना दर्शन विशुद्धि है।

इसी प्रकार अंतिम भावना प्रवचन वत्सलत्व का अर्थ कितना सुन्दर है-वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचन वत्सलत्वम्।

जैसे गाय अपने बछड़े को अकृत्रिम स्नेह करती है वैसे ही धर्मात्माओं को देखकर उनके प्रति स्नेह से आर्द्रचित्त का हो जाना प्रवचन वत्सलत्व है। जो सहधर्मियों में स्नेह है वही प्रवचन के प्रति स्नेहवत्सल माना गया है।

उपरोक्त सोलह कारण भावना के नाम तत्वार्थसूत्र ग्रंथ के आधार से हैं किन्तु षट्खण्डागम ग्रंथ में इन भावनाओं के नामों में कुछ अंतर है जिन्हें भी पूज्य माताजी ने इसमें लिखे हैं जो कि इस प्रकार हैं-

(1) दर्शन विशुद्धता, (2) विनय संपन्नता, (3) शील व्रतों में निरति चारता, (4) छह आवश्यकों में अपरिहीनता (5)क्षण लव प्रति बोधनता, (6) लब्धि संवेग सम्पन्नता (7) यथा शक्ति तथा तप, (8) साधुओं के लिए प्रासुक परित्यागता, (9) साधुओं की समाधि संधारण, (10) साधुओं की वैय्यावृत्य योग युक्तता, (11) अरहंत भक्ति, (12) बहुश्रुत भक्ति, (13) प्रवचनभक्ति, (14) प्रवचन वत्सलता, (15) प्रवचन प्रभावनता और (16) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग।

इन सोलह कारणों के होने पर जीव तीर्थंकर नाम कर्म को बांधते हैं अथवा सम्यग्दर्शन के होने पर शेष कारणों में से एक दो आदि कारणों के संयोग से भी तीर्थंकर नाम कर्म बंध सकता है।

चातुर्मास के भाद्रपद मास में विशेष रूप से मुनि आर्यिका श्रावक-श्राविका सभी षोडश कारण व्रत को यथाशक्ति करते हैं। श्रावक लोग इस पर्व में विभोर होकर पूजा उपासना करते हैं तथा विद्वान्जन इन सोलह कारण भावनाओं को अपने प्रवचन द्वारा लोगों को सुनाकर शांति और सुख का मार्ग दिखाते हैं। इस सोलहकारण पूजा की जयमाला में भी पूज्य माताजी ने सोलह भावनाओं का सार भरा है-

दर्श की विशुद्ध जो पसीच दोष शून्य है।
आठ अंग से प्रपूर्ण सप्त भीति शून्य है।।
सत्य ज्ञान आदि तीन रत्न में विनीत जो।
साधुओं मे ंनम्रवृत्ति धारता प्रवीण वो।।

''गागर में सागर'' भरने की सूक्ति को चरितार्थ करने वाली पूज्य माताजी ने सर्वतोमुखी कार्य किया है। साक्षात् सरस्वती माता का जिनके हृदय में वास है तथा जिन्होंने अपनी लेखनी भगवान के 1008 नामों को लिखकर चलाई इसलिए उनकी लेखनी में अतिशय आ गया। अतः पूज्य माताजी द्वारा रचित इन्द्रध्वज, कल्पद्रुम, सर्वतोभद्र आदि विधानों को करके भक्त भी भक्ति में झूम उठते हैं। जहाँ आज के इस कलियुग में लोगों के पास धर्मध्यानकरने का समय नहीं था। वहाँ पूज्य माताजी की असीम कृपा से वर्ष के 365 दिन में कोई ऐसा दिन नहीं होता जब कि कहीं न कहीं धार्मिक मंडल विधान के अनुष्ठान आदि

कार्य न होते हैं।

जहाँ पूज्य माताजी ने बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे, अष्टसहस्री जैन क्लिष्ट ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद किया वहीं बच्चों के लिए जनसाधारण के लिए बालविकास, प्रतिज्ञा, परीक्षा, जैन महाभारत जैन सरल उपन्यास की भी रचना की। प्रत्येक ग्रंथों की भाषा अति सरल मधुर और रूचिकर है। ग्रंथों के छंद, अलंकार आदि का स्थान-स्थान पर प्रयोग किया है। जैसे-चौबीस तीर्थंकर की एकाक्षरी से लेकर अनेकाक्षरी (32 अक्षरों) तक संस्कृत में स्तुति रचना की है। षट्खण्डागम सूत्र ग्रंथ पर 'सिद्धांत चिन्तामणि' नाम से स्वतंत्र संस्कृत टीका लिखी है।

आदि ब्रह्मा भगवान ऋषभदेव के सिद्धांतों का प्रचार केवल भारत में ही नहीं अपितु विश्व में करने के लिए पूज्य माताजी संलग्न है। उनकी प्रेरणा से 22 मार्च, 1998 को प्रवर्तित भगवान ऋषभदेव का समवसरण पूरे भारत में अहिंसा धर्म एवं अनादि निधन जैनधर्म का प्रचार-प्रसार कर रहा है।

पूज्य माताजी ने अपने दीक्षित जीवन में अनेकों महान् कार्य किये हैं। पूज्य माताजी के ज्ञान गौरव को देखते हुए मैंने एक सावन तर्ज के भजन की पंक्तियों में लिखा है-

अरे माता, तेरे ज्ञान की महिमा जगत में छाई है भारी.....
कुंदकुंद अकलंद देव नहीं देखे, उनके लिखे हुए ग्रंथ मैंने देखे।
अरे माता, तेरे लिखे ग्रंथों में दिखती है उनकी छवि प्यारी.....
अरे माता, तेरे ज्ञान....

''पारस पत्थर लोहे को सोना बनाता है' यह सभी जातने हैं किन्तु पूज्य ज्ञानमती माताजी वह पारस है जो लोहे को सोना ही नहीं पारस बना देती हैं। पूज्य माताजी के चरण सान्निध्य में रहने वाला सचमुच एक दिन पारस बन जाता है।

इस कलियुग में ब्रह्मी, चन्दनबाला के सदृश पूज्य ज्ञानमती माताजी के दर्शन कर हम अपना जीवन धन्य करें। उनकी छत्रछाया हम पर बनी रहे, वे दीर्घायु हों और उनके ज्ञानरूपी अमृत का सरास्वादन हम सबको प्राप्त होता रहे यही मंगल भावना है।

हार्दिक उद्गार

-आर्यिका श्री सुव्रतमती माताजी

ज्ञान की सरिता ज्ञानमती, मातृ वत्सला जग माता।
उत्कृष्ट वैराग्य भावना की, स्वामिनी हो तुम माता।।
सम्यग्ज्ञान दीपिका औ, निःस्वार्थ धर्मसेविका हो।
अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, चिन्तनशील साधिका हो।।1।।

प्रतिभाशाली विदुषी माता, दिव्य व्यक्तित्व तुम्हारा है।
चतुर्मुखी प्रतिभा की धारी, भारतगौरव नाम प्यारा है।।
जैन भूगोल की हो तुम विदुषी, सरस्वती की प्रतिमूर्ति।
श्रेष्ठ धर्मप्रभावक साध्वी, प्रज्ञा और पुरुषार्थ की मूर्ति।।2।।

विद्वानों की हो जननी, जिनवाणी की आराधिका हो।
ओजस्वी वाणी की स्वामिनी, भ्रमण करती ज्ञानशाला हो।।
वात्सल्यमूर्ति माँ 'श्रुतज्ञानी', ज्ञान ज्योति की अमर देन हो।
बीसवीं सदी की प्रथम बाल-ब्रह्मचारिणी से विभूति हो।।3।।

अलौकिक कार्यों की प्रणेत्री, जिनशासन की सेविका हो।
श्रमण संस्कृति की उन्नयनकर्त्री, संकल्पशक्ति की साधिका हो।।
पृथ्वी सम सहनशील माँ, जादुई व्यक्तित्व तुम्हारा है।
श्रावकों की सन्मार्गदर्शिका, रत्नत्रय गुण को धारा है।।4।।

संयम की अनमोल शिक्षिका, जैन वाङ्मय की सृजिका हो।
शास्त्रों की महानतम ज्ञाता, आर्ष परम्परा की संवाहिका हो।
नारी जाति का गौरव माता, कुशल आर्चीटेक्ट हो।
संस्कारों की जन्मदात्री, दृढ़ संकल्प की साक्षात् मूर्ति हो।।5।।

अमर रहेगी इस धरती पर, तेरी गौरव गाथा तब तक।
जब तक सूरज चाँद प्रकाशित, होता रहेगा पृथ्वी पर।।
शब्दातीत व्यक्तित्व की धारी, सूर्य समान तेजस्वी हो।
शब्दों की पुष्पांजलि माता, तेरे चरणों में अर्पित हो।।6।।

इन्हीं शब्दों के साथ पूज्य माताजी के पावन चरणों में कोटि-कोटि नमन।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त-परिचय

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

जन्मस्थान– टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.

जन्मतिथि– आसोज सुदी 15 (शरदपूर्णिमा) वि. सं. 1991, (22 अक्टूबर सन् 1934)

जाति– अग्रवाल दि. जैन, **गोत्र–** गोयल, **नाम–** कु. मैना

माता-पिता– श्रीमती मोहिनी देवी एवं श्री छोटेलाल जैन

आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत– ई. सन् 1952, बाराबंकी में शरदपूर्णिमा के दिन

क्षुल्लिका दीक्षा– चैत्र कृ. 1, ई. सन् 1953 को महावीरजी अतिशय क्षेत्र (राज.) में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से। नाम-क्षुल्लिका वीरमती

आर्यिका दीक्षा– वैशाख कृ. 2, ई. सन् 1956 को माधोराजपुरा (राज.) में चारित्रचक्रवर्ती 108 आचार्य श्री शांतिसागर जी की परम्परा के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के करकमलों से।

साहित्यिक कृतित्व– अष्टसहस्री, समयसार, नियमसार, मूलाचार, कातंत्र-व्याकरण, षट्खण्डागम आदि ग्रंथों के अनुवाद/टीकाएं एवं लगभग 500 ग्रंथों की लेखिका।

डी.लिट्. की मानद उपाधि– सन् 1995 में अवध वि.वि. (फैजाबाद) द्वारा एवं तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय मुरादाबाद द्वारा 8 अप्रैल 2012 को ''डी.लिट्.'' की मानद उपाधि से विभूषित।

तीर्थ निर्माण प्रेरणा– हस्तिनापुर में जंबूद्वीप, तेरहद्वीप, तीनलोक आदि रचनाओं के निर्माण, शाश्वत तीर्थ अयोध्या का विकास एवं जीर्णोद्धार, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ का निर्माण, तीर्थंकर जन्मभूमियों का विकास यथा-भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) में 'नंद्यावर्त महल' नामक तीर्थ निर्माण, भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकन्दी तीर्थ (निकट गोरखपुर-उ.प्र.) का विकास, भगवान पार्श्वनाथ केवलज्ञानभूमि अहिच्छत्र तीर्थ पर तीस चौबीसी मंदिर, हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की 31-31 फुट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमा, मांगीतुंगी में निर्मित 108 फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की विशाल प्रतिमा, महावीर जी तीर्थ पर महावीर धाम में पंचबालयति मंदिर, शिर्डी में ज्ञानतीर्थ, सम्मेदशिखर में आचार्य श्री शांतिसागर धाम, दिल्ली-भारत की राजधानी में ''चक्रवर्ती भरत ज्ञानस्थली जैन तीर्थ'' इत्यादि।

महोत्सव प्रेरणा– पंचवर्षीय जम्बूद्वीप महामहोत्सव, भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव, अयोध्या में भगवान ऋषभदेव महाकुंभ मस्तकाभिषेक, कुण्डलपुर महोत्सव, भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव, दिल्ली में कल्पद्रुम महामण्डल विधान का ऐतिहासिक आयोजन इत्यादि।

21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप स्थल पर तत्कालीन राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील एवं 22 अक्टूबर 2018 को ऋषभदेवपुरम्-मांगीतुंगी (महा.) में माननीय राष्ट्रपति श्री रामनाथ जी कोविन्द द्वारा पूज्य माताजी के ससंघ सान्निध्य में 'विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन' का उद्घाटन।

शैक्षणिक प्रेरणा– 'जैन गणित और त्रिलोक विज्ञान' पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी, राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन, इतिहासकार सम्मेलन, न्यायाधीश सम्मेलन एवं अन्य अनेक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के सेमिनार, ऑनलाइन जैन इनसाइक्लोपीडिया आदि।

रथ प्रवर्तन प्रेरणा– जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति (1982 से 1985), समवसरण श्रीविहार (1998 से 2002), महावीर ज्योति (2003-2004) आचार्य श्री शांतिसागर सम्मेदशिखर ज्योति रथ (2014) भगवान ऋषभदेव विश्वशांति कलश यात्रा रथ मांगीतुंगी (2015-2016) के दो रथों का भारत भ्रमण।

इस प्रकार नित्य नूतन भावनाओं की जननी पूज्य माताजी चिरकाल तक इस वसुधा को सुशोभित करती रहें, यही मंगल कामना है।

विषयानुक्रमणिका

	विषय	पृ. संख्या
1.	अनादिनिधन णमोकार मंत्र एवं चत्तारि मंगल पाठ	9
2.	श्री ऋषभदेव स्तुति (सप्तविभक्ति समन्वित)	10
3.	श्री भरतस्वामी स्तुति (सप्तविभक्ति समन्वित)	10
4.	प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का जीवन दर्शन	11
5.	श्री ऋषभदेव एवं भरत स्वामी का परिचय	12
6.	प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के पुत्र भरत से भारत (आदिपुराण ग्रंथ से)	13
7.	प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के पुत्र भरत से भारत (पद्मपुराण ग्रंथ से)	21
8.	प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के पुत्र भरत से भारत (हरिवंशपुराण ग्रंथ से)	24
9.	कुलकरों की उत्पत्ति	26
10.	वैदिक ग्रंथों में अयोध्या	29
11.	भगवान ऋषभदेव और भरत का जैनेतर पुराणादि में उल्लेख	32
12.	An introduction of Jainism	35
13.	The opinions of the Wesrern Scholars about the Jain Dharama	38
14.	वर्तमान अयोध्या	40
15.	ह्रींकार स्तुति	41
16.	न्यायालयों के निर्णय-हमारा जैनधर्म बहुत प्राचीन.....	42
17.	प्रशस्ति	44

सोलह भावना

श्रेयोमार्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्ज्वलद्दुःखदाव-
स्कन्धे चंक्रम्यमाणानतिचकितमिमानुद्धरेर्यं वराकान्।।
इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसद्भावनोपात्तपुण्यप्रक्रा -
न्तैरेव वाक्यैः शिवपथमुचितान् शास्ति योऽर्हन् स नोऽव्यात्[1]**।।1।।**

अर्थ – इस संसाररूपी भीषण वन में दुःखरूपी दावानल अग्नि अतिशय रूप से जल रही हैं। जिसमें श्रेयोमार्ग – अपने हित के मार्ग से अनभिज्ञ हुए ये बेचारे प्राणी झुलसते हुए अत्यंत भयभीत होकर इधर-उधर भटक रहे हैं। ''मैं इन बेचारों को इससे निकालकर सुख में पहुँचा दूँ''। पर के ऊपर अनुग्रह करने की इस बढ़ती हुई उत्कृष्ट भावना के रस विशेष से तीर्थंकर सदृश पुण्य संचित कर लेने से दिव्यध्वनिमय वचनों के द्वारा जो उसके योग्य मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं वे अर्हंतजिन हम लोगों की रक्षा करें।

---

1. अनगार धर्मामृत।

'कर्मारातीन् जयतीति जिनः' कर्मरूपी शत्रुओं को जो जीतते हैं वे जिन कहलाते हैं। 'जिनो देवता अस्येति जैनः' और जिनदेव जिसके देवता हैं– उपास्य हैं वे जैन कहलाते हैं। जिनेन्द्र देव के इस जैनशासन में प्रत्येक भव्य प्राणी को परमात्मा बनने का अधिकार दिया गया है। धर्म के नेता अनंत तीर्थंकरों ने अथवा भगवान महावीर स्वामी ने मोक्षमार्ग के दर्शक ऐसा मोक्षमार्ग के नेता बनने के लिए उपाय बतलाया है। इसी से आप इस जैनधर्म की विशालता व उदारता का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इस उपाय में सोलहकारण भावनायें भानी होती हैं और इनके बल पर अपनी प्रवृत्ति सर्वतोमुखी, सर्वकल्याणमयी, सर्व के उपकार को करने वाली बनानी होती है।

''दर्शनविशुद्धिविनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचन-भक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य''।।24।।

दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शीलव्रतेष्वननतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हंतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक अपरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवत्सलत्व ये सोलहकारण भावनायें तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव के लिये हैं अर्थात् इनसे तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता है।

इन सोलह भावनाओं में से दर्शनविशुद्धि का होना अत्यंत आवश्यक है। अन्य सभी भावनायें हों अथवा कुछ कम भी हों फिर भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है अथवा किन्हीं एक, दो आदि भावनाओं के साथ सभी भावनायें अविनाभावी हैं तथा अपायविचाय धर्मध्यान भी विशेष रूप से तीर्थंकर प्रकृति बंध के लिए कारण माना गया है। वैसे यह ध्यान तपो भावना में ही अंतर्भूत हो जाता है।

दर्शनविशुद्धि भावना

जिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थे मोक्षवर्त्मनि रुचिः निःशंकितत्वाद्यष्टांगा दर्शनविशुद्धिः।।1।।

जिनेन्द्र देव के द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रंथ दिगम्बर मोक्षमार्ग में रुचि होना और निःशंकित आदि आठ अंगों का पालन करना दर्शनविशुद्धि है। इहलोक, परलोक, व्याधि, मरण, अगुप्ति, अत्राण और आकस्मिक इन सात प्रकार के भयों से रहित होना निःशंकित है अथवा अर्हंत देव के द्वारा कथित प्रवचन में 'यह ऐसा है या नहीं?' इत्यादि शंका नहीं करना सो निःशंकित अंग है। पंचेन्द्रियों के सुख कर्माधीन हैं, विनश्वर हैं और दुःखों से मिश्रित हैं। इनकी इस भव अथवा परभव में आकांक्षा नहीं करना और अनेक प्रकार के कुदृष्टियों के मत की आकांक्षा नहीं करना, निःकांक्षित अंग है। ये शरीर आदि अपवित्र हैं इनमें पवित्रता की बुद्धि को दूर करना अथवा अर्हंत देव के शासन में मुनियों का स्नान न करना आदि घोर कष्टप्रद है, ठीक नहीं है इत्यादि अशुभ भावना को छोड़ना तथा रत्नत्रय से पवित्र मुनियों के शरीर में ग्लानि नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है। अनेकों दुर्नयों से युक्त मिथ्यामतों को परीक्षाचक्षु से युक्तिशून्य समझकर उसमें मोक्ष को प्राप्त नहीं होना अमूढ़दृष्टि अंग है। उत्तम क्षमा आदि के द्वारा आत्मा के गुणों को बढ़ाना तथा मोक्षमार्ग में चलते हुए किसी अज्ञानी से यदि उसमें दूषण लग जाए तो उसे ढक देना, उपवृंहण या उपगूहन अंग है। धर्म से च्युत करने वाले कषाय आदि के उपस्थित हो जाने पर अपने को अथवा पर को धर्म से च्युत नहीं होने देना स्थितिकरण अंग है। जिनदेव कथित धर्म में नित्य ही अनुराग करना और धर्मात्माओं में भी सहज स्नेह रखना वात्सल्य अंग है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के द्वारा आत्मा को प्रभावित करना और दान, तप, जिनपूजा आदि के द्वारा जैनधर्म का प्रभाव फैलाना प्रभाव अंग है। सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं।

सम्यक्त्व के पच्चीस मलदोष होते हैं। इन आठ अंगों से विपरीत शंका आदि आठ दोष, ज्ञान, पूजा, ऐश्वर्य, कुल, जाति, बल, रूप और तप इन आठ के निमित्त से आठ मद, कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु तथा इन तीनों के उपासक

ऐसे छह अनायतन तथा देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और पाखंडिमूढ़ता ये तीन मूढ़ता ऐसे पचीस दोष होते हैं, इनका त्याग करना चाहिये। इस प्रकार से प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य इन चार गुणों को भी धारण करना चाहिये। यह सम्यग्दृष्टि जीव भय से, आशा से, स्नेह से अथवा लोभ से किसी भी निमित्त से कुदेवों को, गुरुओं को नमस्कार नहीं करता है। इस सम्यक्त्व के होने पर ही आगे की भावनायें कार्यकारी हैं अन्यथा नहीं। इसलिये इस दर्शनविशुद्धि को सर्वप्रथम ग्रहण करना चाहिये।

इस दर्शनविशुद्धि के प्रभाव से राजा श्रेणिक ने सातवें नरक की तेंतीस सागर की आयु को घटा-घटा कर मात्र पहले नरक की ही चौरासी हजार वर्ष प्रमाण ही कर लिया तथा तीर्थंकर प्रकृति का भी बंध कर लिया है। आज तक जितने भी जीव तीर्थंकर हुये हैं, होते हैं अथवा होंगे या मोक्ष गये हैं अथवा जायेंगे, वे सब इस दर्शनविशुद्धि के प्रभाव से ही होते हैं ऐसा समझो। सम्यक्त्व के महत्त्व को सूचित करने वाला एक उदाहरण देखिये–

सौराष्ट्र देश के गिरि नगर में एक दयामित्र नाम का जैनधर्मी सेठ रहता था। एक बार उसने देशांतरों में जाकर धन कमाने का निर्णय किया। तब उसके साथ अनेकों व्यापारी हो लिये। उससे गाँव के बाहर डेरा डाला था कि वहाँ पर एक ब्राह्मण पधारे। सेठजी ने उससे पूछा आप यहाँ क्यों आये हैं? वसुभूति ने अपना परिचय देकर कुछ दिन साथ रहने की इच्छा व्यक्त की। सेठजी उदारमना थे उन्होंने साथ रख लिया। सेठजी रोज एक बार सभी व्यापारियों व साथ चलने वालों को बिठाकर धर्मोपदेश दिया करते थे। वसुभूति चिंतित हो सोचने लगा 'यह सेठ अभी तक धर्म के मूल से अनभिज्ञ है, यह बेचारा नंगे साधुओं को मानता है और उन्हीं के कहे हुए मार्ग पर अपनी अटूट संपत्ति का दुरुपयोग कर रहा है।' समय पाकर वह ब्राह्मण सेठ को समझाने लगा। सेठजी भी मन ही मन उसके अज्ञान पर हँस रहे थे और सोचा करते थे कि इसे सच्चे धर्म में कैसे लगाया जाय?

वह खुलकर दिगम्बर मुनियों की निंदा किया करता था। सेठजी भी कभी-कभी उसे समझाया करते थे। एक दिन सेठजी ने युक्ति से उसे धर्ममार्ग पर लाने का निर्णय किया और एकांत में बुलाकर बोले–

'भूदेव! आप सर्वश्रेष्ठ हैं। मेरे सामने एक समस्या उपस्थित हुई है। उसे आप ही सुलझा सकते हैं।'

'वह क्या है?' वह यह है कि ''इस फाल्गुन शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा तक मेरा ऐसा नियम है कि प्रतिदिन दिगम्बर मुनि को आहार देना। वह नियम कैसे पूर्ण हो? चूँकि यहाँ मार्ग में कोई मुनि नहीं मिल सकते अतः मेरी इच्छा है कि आप कुछ दिन के लिये दिगम्बर मुनि बन जाओ। महाराज! पीछे आप जितना भी धन चाहोगे मैं दक्षिणारूप में देकर आपको कृतार्थ कर दूँगा।''

वसुभूति मन में बहुत कुछ सोच-विचार करके अंत में नग्न मुनि बनने को तैयार हो गया। उसने सोचा यहाँ मुझे पहचानने वाला है कौन? कुछ दिन नंगे रहकर पुनः भरपूर दक्षिणा लेकर घर चला जाऊँगा। समय उचित देखकर दयामित्र ने वसुभूति को निर्जल उपवास का नियम कराकर उच्च पाटे पर बिठाया और दीक्षा की प्रारंभिक क्रिया में उसका केशलोंच करने लगे। वह बेचारा हा, हू, करने लगा। तब दयामित्र ने कहा ऐसा करने से आपको दक्षिणा नहीं मिल सकती। हमारे मुनि प्रसन्नचित्त होकर केशलोंच करते हैं। खैर थोड़ी देर में केशलोंच करके उसे नग्न बना दिया। दीक्षा विधि के बाद मुनियों की सारी क्रियाएँ उसे समझा दीं। दूसरे दिन एक बार खड़े-खड़े हाथ की अँजुलियों में भोजन करना, पान-इलायची खाना नहीं, पुनः जल पीना नहीं, नहाना नहीं इत्यादि क्रियाओं से वह घबड़ा गया। बोला–

''दयामित्र! मैं इस दीक्षा को निभाने में असमर्थ हूँ। यदि आप सायं को जलपान और प्रातः नदी में स्नान करने की छूट देते हैं तो ठीक अन्यथा मैं इस वेष को छोड़कर वस्त्र पहन लूँगा।'' सेठजी हँस पड़े पुनः बोले–

''मुनिराज! हमारे साधु प्राण जाने पर भी ऐसा नहीं सोचते हैं। वे इतना ही नहीं, उपवास आदि से खिन्न होकर सायं को जल की इच्छा नहीं करते। अनेकों उपसर्ग व परीषहों को सहन करते हैं।'' पुनः सेठ ने उसे सम्यक्त्व और चारित्र का उपदेश देकर बोधि की दुर्लभता का उपदेश दिया, जिससे उसे कुछ शांति मिली। वह सोचने लगा, मैंने इनके नग्न श्रमणों को मस्त, स्वच्छंद आदि शब्दों से तिरस्कृत किया था इसीलिये यह बुद्धिमान दयामित्र मुझे दिगम्बर चर्या का ज्ञान करा रहा है। कुछ ही दिनों में दयामित्र के उपदेश से वसुभूति

के हृदय से मिथ्यात्व का पिशाच निकल गया और वह सच्चा सम्यग्दृष्टि बन गया। देव-अदेव को, तत्त्व-अतत्त्व को उसने पहचान लिया पुनः भावपूर्वक मुनि की चर्या का निर्वाह करने लगा। एक समय मार्ग में भीलों से व्यापारियों में युद्ध छिड़ गया। उस समय वसुभूति मुनि ध्यानमग्न थे, उनको एक बाण लग जाने से वे आत्मचिंतन करने लगे। दयामित्र ने भी उनकी मरणासन्न स्थिति जानकर उन्हें सल्लेखना ग्रहण करा दी। वे महामंत्र स्मरणपूर्वक प्राण छोड़कर सौधर्म स्वर्ग में मणिकुण्डल नाम के देव हो गये। आगे ये ही देव राजा श्रेणिक के प्रसिद्ध पुत्र अभय कुमार हुये हैं। अभय कुमार ने अंत में दीक्षा लेकर घोर तपश्चरण कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र पद प्राप्त कर लिया है। आगे वे मनुष्य भव में आकर उसी भव से मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

इसी तरह से निःशंकित आदि आठ अंगों में भी अंजन चोर, अनंतमती, उद्दायनराजा, रेवतीरानी, जिनेन्द्रभक्त सेठ, वारिषेण मुनि, वज्रकुमार मुनि और विष्णुकुमार मुनि प्रसिद्ध हुये हैं। उनका भी जीवन चरित्र पढ़ना चाहिये।

मगध देश के अंतर्गत एक मिथिला नगरी थी। उसके राजा पद्मरथ बहुत ही बुद्धिमान, उदार, परोपकारी और राजनीति में कुशल थे। एक दिन राजा पद्मरथ शिकार के लिये वन में गये हुये थे। उन्होंने वहाँ एक खरगोश का पीछा किया किन्तु कुछ क्षण बाद वह न जाने जहाँ अदृश्य हो गया। राजा उसे खोजते-खोजते भाग्य से कालगुफा नाम की एक गुफा में जा पहुँचे। वहाँ एक मुनिराज विराजमान थे, बड़े तपस्वी थे। तपस्या के प्रभाव से उनका शरीर चमक रहा था उनका नाम सुधर्म मुनि था। पद्मरथ राजा ने मुनि को साष्टांग नमस्कार किया और विनयपूर्वक पास में बैठ गये। मुनिराज ने राजा को धर्म का उपदेश दिया। जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला जल का संसर्ग पाकर शांत हो जाता है वैसे ही राजा का मन भी दिव्य धर्मोपदेश पाकर शांत हो गया तब राजा ने महामुनि से सम्यक्त्व और अणुव्रत ग्रहण कर लिये तथा शिकार खेलना आदि हिंसा कार्यों का सर्वथा त्याग कर दिया पुनः मुनिराज से पूछने लगे–

"हे भगवन्! हे संसार के आधार! कहिये, जिनधर्मरूपी समुद्र की वृद्धि करने वाले आपके समान गुणशाली चंद्रमा और भी कोई हैं या आप ही हैं।"

तब मुनिराज ने कहा–

"राजन्! हैं, और वे मेरे भी महान् जगद्गुरु तीर्थंकर हैं। इस समय चंपानगरी में बारहवें तीर्थंकर भगवान् वासुपूज्य केवलज्ञानरूपी किरणों से भव्य जीवों के मिथ्यात्वरूपी गहन अंधकार को दूर कर रहे हैं। उनमें अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन आदि अनंतगुण विद्यमान हैं। उनके आगे हम जैसे मुनि तो सुमेरु के आगे राई से भी छोटे तुच्छ हैं। राजन्! कहाँ सूर्य का तेज और कहाँ जुगनू ?"

इतना सुनकर राजा उसी क्षण भगवान् वासुपूज्य के दर्शन को लालायित हो उठे। मुनि को बार-बार नमस्कार कर गुफा से बाहर निकले, अपने घोड़े पर सवार हो शीघ्र ही राजमल में आ गये और बड़े वैभव के साथ चम्पानगरी के लिये प्रस्थान कर दिया।

इसी बीच धन्वन्तरि और विश्वानुलोम नाम के दो देव स्वर्ग से सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की परीक्षा के लिये यहाँ मध्यलोक में आये हुये थे। तब सम्यग्दृष्टि देव ने कहा–

"मित्र! जो अभी-अभी सम्यग्दृष्टि बना है, आओ उसी की परीक्षा कर लें।"

उन दोनों देवों ने राजा के सम्यग्दृष्टि की दृढ़ता और जिनेन्द्र देव की दृढ़ भक्ति की परीक्षा के लिये दैवी प्रकोप चालू कर दिया। उन्होंने पहले राजा के रथ के सामने भयंकर काला सर्प दिखलाया, राजछत्र को भंग कर दिया पुनः सामने ही भयंकर अग्नि लगा दी। प्रचण्ड हवा के तूफान से पर्वत और पत्थरों का गिरना दिखाया। असमय में ही जल वर्षा और तमाम कीचड़ से राजा का मार्ग ही रोक दिया। फिर भी राजा अत्यंत दृढ़ता के साथ आगे बढ़ने का पुरुषार्थ करने लगा। मंत्रियों ने बहुत ही समझाया–

"महाराज! ये सब महा अपशकुन आपके प्रयाण को रोक रहे हैं और महा-अनिष्ट की सूचना कर रहे हैं अतः आप आज प्रस्थान मत करें, कल-परसों आदि दिवस में जाना चाहिये।"

राजा ने कहा–

"मंत्रियों! जिस जिनभक्ति में सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर देने की शक्ति मौजूद है क्या वह इन विघ्न-बाधाओं को नहीं दूर कर सकती ? देखो! सम्यग्दृष्टि को जिनभक्ति के माहात्म्य में शंका नहीं करनी चाहिये। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि जिनेन्द्र देव के प्रसाद से ये सब बाधायें मुझे आज रोक नहीं सकेंगी।

इधर इन दोनों देवों ने विक्रिया से राजा के रथ के हाथी को कीचड़ में ऐसा फँसा दिया कि वह निकल ही नहीं सका। इन सब भयंकर उपद्रवों को देखकर सभी सामंत, मंत्री आदि घबरा गये और पुनः-पुनः राजा से यात्रा स्थगित कर लौट चलने की प्रार्थना करने लगे किन्तु राजा ने किसी की एक भी न सुनी तथा भक्ति में विभोर हो जोर से बोल उठा–

"नमः श्री वासुपूज्याय, नमः श्री वासुपूज्याय, नमः श्री वासुपूज्याय," इस मंत्र का उच्चारण करके झट हाथी को आगे बढ़ा दिया। इस मंत्र के प्रसाद से देवों की शक्ति कुंठित हो गई, वे दोनों आगे कुछ भी विक्रिया नहीं कर सके, तब सारी माया विलीन हो गई और राजा का रथ मार्ग में द्रुतगति से चलने लगा।

उसी क्षण वे दोनों देव अपने असली रूप में प्रगट होकर राजा के सम्यक्त्व की, जिनभक्ति की प्रशंसा करने लगे। उन देवों ने राजा की सच्ची जिनभक्ति से प्रभावित होकर उन्हें सर्व रोगों को नष्ट करने वाला एक दिव्य हार भेंट में दिया और एक दिव्य वीणा दी जिसकी आवाज एक योजन (चार कोश) तक सुनाई देती थी। पुनः राजा की बहुत-बहुत प्रशंसा करते हुये अपने स्थान पर चले गये।

राजा पद्मरथ वासुपूज्य भगवान को हृदय में धारण किये हुए निर्विघ्न और सकुशल चंपानगरी आ गये। वहाँ पहुँचकर रथ से उतरकर जो आनंद हुआ वह शब्दों के अगोचर था। भगवान की पूजा-स्तुति करके मनुष्यों के कोठे में बैठकर प्रभु का दिव्य उपदेश सुना। तत्क्षण ही उन्हें संसार से वैराग्य हो गया, तब वे भगवान के चरणमूल में जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मुनि बन गये। दीक्षा लेते ही उनके परिणामों में इतनी निर्मलता आ गई कि अंतर्मुहूर्त में ही उन्हें अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया। अनेक ऋद्धियाँ प्रगट हो गईं और वे महामुनि वासुपूज्य भगवान के "गणधर" हो गये।

कुछ दिनों तक घोर तपश्चर्या करते हुये भव्यों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते रहे हैं। अनंतर घातिया कर्मों का नाश कर केवली बन गये हैं पुनः ये पद्मरथ केवली सर्व कर्मों का नाश कर निर्वाण धाम को प्राप्त हो गये हैं।

यह है सम्यग्दर्शन की दृढ़ता का उदाहरण, जो कि नियम से संपूर्ण विघ्न-बाधाओं को चकनाचूर कर देने वाला है।

विनयसंपन्नता भावना

ज्ञानादिषु तद्वत्सु चादरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसंपन्नता।।2।।

मोक्षमार्ग के साधन सम्यग्ज्ञान आदि का और उसके साधनभूत गुरु आदिकों का यथायोग्य आदर-सत्कार करना अथवा कषायों को दूर करना यह विनय-संपन्नता है। और भी कहते हैं– ''अर्हंत आदि पंच परम गुरुओं की पूजा करने में कुशल, ज्ञान आदिकों में यथायोग्य भक्ति से युक्त, गुरु के प्रति सर्वत्र अनुकूल-प्रवृत्ति, प्रश्न, स्वाध्याय, वाचना, कथा और विज्ञप्ति आदि में कुशल, देश, काल और भाव के स्वरूप को समझने में तत्पर तथा आचार्य के अभिप्राय के अनुरूप आचरण करने वाली विनय शुद्धि है। विनय सर्व संपत्तियों का मूल है। यही पुरुष का भूषण है और संसार समुद्र से पार करने के लिये नौका के समान है।''[1]

मूलाचार में विनयकर्म का लक्षण करते हुये कहा है कि ''विनीयंते निराक्रियंते संक्रमणोद्योदीरणादि भावेन प्राप्यंते येन कर्माणि तद्विनयकर्म शुश्रूषणं।''[2] जिसके द्वारा कर्म दूर किये जाते हैं– निराकृत किये जाते हैं, संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि भावों को प्राप्त करा दिये जाते हैं वह विनय कर्म है अर्थात् शुश्रूषा करना। तथा विनय का विस्तृत विवेचन करते हुए मूलाचार में विनय के पाँच भेद बताये हैं– दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और औपचारिक विनय। उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य, प्रभावना आदि गुणों को धारण करना, पंच परमेष्ठी में अनुराग करना, उनकी पूजा करना, उनके प्रति असत्य आरोपों का निराकरण करना, उनके गुणों का कीर्तन करना, उनकी अवज्ञा नहीं करना। शंका, कांक्षा आदि अतीचारों को नहीं लगाना तथा जिनेन्द्र कथित तत्त्वों का दृढ़ श्रद्धान करना आदि दर्शन विनय है।

काल की शुद्धि में ग्रंथों का पढ़ना-पढ़ाना, हाथ-पैर आदि धोकर पर्यंकासन से अध्ययन करना, नियम विशेष लेकर पढ़ना, बहुमान में पढ़ना, गुरु और ग्रंथ का नाम नहीं छिपाना, शब्द, अर्थ और उभय की शुद्धिपूर्वक पढ़ना। इस

1. तत्त्वार्थवार्तिक। 2. मूलाचार सटीक, पृ. 440।

तरह काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिन्हव तथा व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि और उभय शुद्धि इन आठ के भेद से ज्ञान विनय के भी आठ भेद हो सकते हैं।

इन्द्रियों को जीतना, कषायों को दूर करना, मन-वचन-काय की शुभ प्रवृत्ति रूप तीन गुप्तियों को पालना और पाँच समितिरूप प्रवृत्ति करना यह सब चारित्र विनय है।

आतापन आदि उत्तर गुणों में, अनशन आदि तपश्चरण में उत्साह रखना, तप में अधिक साधुओं की भक्ति करना और जो तप में हीन हैं उनकी अवहेलना नहीं करना यह सब तप विनय है।

पाँचवें औपचारिक विनय के मन-वचन-काय की अपेक्षा से तीन भेद हैं तथा इनके भी प्रत्यक्ष-परोक्ष की अपेक्षा दो-दो भेद हो सकते हैं।

गुरुओं को आते हुये देखकर आसन से उठकर खड़े होना, सिद्ध, आचार्य भक्तिपूर्वक उनकी वंदना करना, शिर से नमस्कार करना, उनको हाथ जोड़कर प्रणाम करना, जाते समय उनके पीछे-पीछे जाना, उनका आदर करना। उनसे नीचे बैठना, चलते समय उनके पीछे या उनसे बायें तरफ चलना, उनके सामने आप आसन पर न बैठकर नीचे बैठना, गुरु के लिए आसन-पाटा आदि देना, उन्हें पुस्तक-पीछी-कमंडलु आदि देना, उन्हें वसतिका, गुफा आदि प्रासुक स्थान देखकर ठहराना और उनके सामने नम्र प्रवृत्ति से बैठना। उनके शरीर तथा समय के योग्य मालिश वगैरह करना, उष्ण काल में शीत क्रिया-उपचार तथा शीत काल में उष्ण क्रिया आदि करना, उनकी आज्ञा के अनुसार उनके काम करना। गुरु के लिये चटाई[1], पाटा आदि संस्तर लगाना। उनके पुस्तक-कमंडलु आदि उपकरणों का पिच्छिका से प्रतिशोधन करना, इत्यादि रूप से जो भी गुरुओं का या अन्य साधु वर्गों का काय से कार्य किया जाता है वह सब कायिक विनय है।

गुरुओं के प्रति आदरसूचक वचन बोलना जैसे कि हे भट्टारक! हे भगवन्! इत्यादि। उनके समक्ष हितरूप, मितरूप, मधुर, सूत्र के अनुकूल, अनिष्ठुर, कर्कशता रहित वचन बोलना, गृहस्थ के योग्य, असभ्य या अश्लील वचन मुख से नहीं निकालना, अवहेलना, निंदा व पाप क्रियाकारक वचन भी नहीं

1. संस्तरकरणं-चट्टकादिप्रस्तरणं (मूलाचार सटीक, पृ. 298)।

बोलना यह सब वाचिक विनय है।

राग, द्वेष, हिंसा आदि पाप भावों से मन को हटाकर धर्म व सम्यग्ज्ञान आदि में मन को लगाना। यह सब मानसिक विनय है।

गुरु, आचार्य, उपाध्याय आदि के रहते हुये जो उनकी विनय की जाती है वह सब प्रत्यक्ष विनय है तथा उनकी अनुपस्थिति में जो उनका विनय किया जाता है और उनकी आज्ञा का पालन किया जाता है वह सब परोक्ष औपचारिक विनय है।

यहाँ विचार करने की बात यह है कि जब साधु दिगम्बर होकर भी स्वयं अपने गुरु व सहधर्मी साधुओं को जो कि दीक्षा में एक रात्रि भी बड़े हैं उनकी इस तरह विनय करते हैं, उन्हें आसन-उपकरण-वसतिका आदि देते हैं, उनके हाथ-पैर दबाना, तैल मर्दन आदि करना करते हैं, तब श्रावकों को तो विनय करना अतीव उपयोगी है ही।

इसलिए श्री कुंदकुंद देव कहते हैं कि "विनय से हीन की सर्व शिक्षा निरर्थक है। शिक्षा का फल विनय है और विनय का फल सर्वकल्याण है। यह विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से ही तप, संयम और ज्ञान की सिद्धि होती है और विनय के द्वारा ही आचार्य तथा सर्वसंघ आराधित प्रसन्न हो जाता है।"[1]

जो गुरुओं की विनय नहीं करते हैं या अभिमान में आकर उनका अनादर-अपमान कर देते हैं उन्हें कितना कटु फल मिलता है–

विजयार्ध पर्वत की श्रेणी पर रथनूपुर नाम का एक नगर है। रावण के जमाने में सहस्रार नाम के राजा इस रथनूपुर के स्वामी थे। उसकी मानसुन्दरी रानी जब गर्भवती हुई तो उसे इंद्र के वैभव को भोगने का दोहला हुआ। राजा सहस्रार ने विद्या के बल से इन्द्र जैसे वैभव तैयार किये और रानी के दोहले को पूर्ण किया। नव महीने के बाद पुत्ररत्न के उत्पन्न होने पर राजा ने उसका नाम इन्द्र रख दिया। वह पुत्र जब यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ तब उसने विजयार्ध पवर्त के समस्त विद्याधर राजाओं को अपने वश में कर लिया और अपना विशाल वैभव इन्द्र जैसा बनाया।

उसके अड़तालीस हजार रानियाँ थीं, मुख्य रानी का नाम शची था, पुत्र

1. मूलाचार श्री कुंदकुंद कृत, गाथा 188 से 212 तक।

का नाम जयंत था तथा अपने श्वेतवर्ण के उत्तम हाथी का नाम ऐरावत रखा। उसने चारों दिशाओं में सोम, यम, वरुण आदि नाम रखे, अपनी सभा का नाम सुधर्मा सभा रखा, इत्यादि प्रकार से वह इन्द्र 'इन्द्र' के सदृश वैभव का अनुभव कर रहा था।

उस समय लंकापुरी का स्वामी माली नाम का विद्याधर था, यह लंका में ही रहकर समस्त विजयार्ध पर्वत के विद्याधरों पर अनुशासन कर रहा था। इंद्र के प्रभाव से जब राजाओं ने उसकी आज्ञा उल्लंघन करना शुरू कर दिया तब माली राजा और इन्द्र राजा का आपस में भयंकर युद्ध हुआ। इसमें इन्द्र ने माली को मार डाला। तब उस माली का भाई सुमाली अपनी रक्षा करता हुआ पाताल लंका में निवास करने लगा। वहाँ उसे रत्नश्रवा पुत्र हुआ। इस रत्नश्रवा विद्याधर की केकसी रानी ने ही रावण, विभीषण और कुम्भकर्ण को जन्म दिया।

जब रावण तरुण हुआ और उसे यह पता चला कि अपनी राज्यभूमि लंका को जीतकर इन्द्र विद्याधर ने मेरे बाबा को पराजित किया है तब उसके हृदय में प्रतिशोध का भाव उत्पन्न हो गया अतः उसने नाना विद्यायें सिद्ध कीं।

कालांतर में चक्ररत्न को प्राप्त कर रावण दिग्विजय के लिये निलकता है। क्रमशः वह विजयार्ध पर्वत की भूमि में पहुँचता है तब इन्द्र अपने सभासद देव विद्याधरों को आदेश देता है कि युद्ध की तैयारी करो। पिता सहस्रार के मना करने पर भी इन्द्र रावण के साथ घनघोर युद्ध करता है। उस युद्ध में उभय पक्ष में तमाम सैनिकों का क्षय हो जाता है। अनंतर रावण और इन्द्र विद्याधर का परस्पर युद्ध शुरू हो जाता है। उस युद्ध में शक्तिशाली रावण ने उछल कर अपना पैर इन्द्र के हाथी के मस्तक पर रखा और पैर की ठोकर से सारथि को नीचे गिरा दिया तथा इंद्र को वस्त्र से बाँधकर अपने हाथी पर चढ़ा लिया। इस तरह रावण इन्द्र को जीतकर अपनी लंकापुरी में ले आया।

उस प्रसंग में राजा सहस्रार अपने सामंतों को साथ लेकर रावण के दरबार में आये। रावण ने उनका यथायोग्य विनय किया पुनः सहस्रार विद्याधर स्वामी ने कहा कि हे रावण! तुम अब मेरे पुत्र को छोड़ दो। रावण बोला पूज्यवर! मैं उसे इस शर्त पर छोड़ सकता हूँ कि आज से लेकर तुम सभी

लोग मेरे नगर में बुहारी देने का काम करो। धूलि, अशुचि पदार्थ, कंटक आदि को साफ करो। इन्द्र भी सुगंधित जल से पृथ्वी का सिंचन करें और उसकी शची आदि इन्द्राणियाँ पंचवर्ण चूर्ण से मंगल चौक पूरें। यदि आप लोग यह शर्त मंजूर करते हो तो मैं इन्द्र को अभी ही छोड़ देता हूँ, इतना कहकर रावण बार-बार हँसने लगा।

पुनः सहस्रार से विनयावनत होकर रावण ने कहा कि पूज्यवर! आप जैसे इन्द्र के पिता हैं वैसे ही मेरे भी पिता तुल्य पूज्य हैं। मैं आपकी आज्ञा को सहर्ष पालूँगा। आज से इन्द्र मेरा चौथा भाई है मैं उसके साथ इस पृथ्वीतल का राज्य निष्कंटक होकर अनुभव करूँगा इत्यादि नाना प्रकार के विनय वचनों से सहस्रार को संतुष्ट कर इंद्र को छोड़ दिया। इन्द्र भी अपने पिता के साथ रथनूपुर नगर को वापस आ गया किन्तु उसके मन में शांति नहीं हो रही थी। उसे बंधन से छूटने का सुख नहीं था किन्तु अपने पराजय का महान् दुःख हो रहा था।

एक दिन राजा इन्द्र अपने राजमहल में विद्यमान विशाल जिनालय में बैठे हुये पराजय की चिन्ता से अतिशय चिन्तित हो रहे थे।

इसी बीच में निर्वाणसङ्गम नाम के चारण ऋद्धिधारी महामुनि आकाशमार्ग से जाते हुए वहाँ जिनमंदिर के दर्शनार्थ आ गये। राजा इन्द्र ने उनका अतिशय विनय करके उनके चरणों के निकट बैठकर अपने पराभव का कारण पूछा। उस समय मुनिराज कहते हैं-

हे इन्द्र! इसी भव से तुमने लीलामात्र में कुछ पाप संचित कर लिया था, उसके फलस्वरूप इस पराजय को प्राप्त हुये हो। सो सुनो! अरिंजयपुर नगर में वन्हिवेग विद्याधर ने अपनी ''अहिल्या'' पुत्री का स्वयंवर किया था। उस समय वहाँ तुम भी गये थे किन्तु कर्मसंयोग से कन्या ने चंद्रावर्त नगर के राजा आनंदमाल के गले में वरमाला डालकर उसका वरण कर लिया। ईर्ष्याजन्य बहुत भारी क्रोध के कारण तुम भी उसी समय से आनंदमाल से द्वेष करने लगे। कुछ ही दिन बाद आनंदमाल ने अपने भाई के साथ जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और उत्कृष्ट तप करने लगे।

एक समय वे महामुनि रथावर्त पर्वत पर प्रतिमायोग में विराजमान थे।

उस समय तुम अपने विमान में बैठे हुए उधर से निकले, उन्हें पहचान लिया और उन्हें देखते ही क्रोध से सहित होकर अनेक प्रकार से उनकी हँसी की। तुम बोले – अरे! काम भोग में अतिशय लंपट तू अहिल्या पति है, इस समय तू यहाँ क्यों बैठा है ? इत्यादि कहते हुये तुमने उन मुनिराज को रस्सी से कस कर लपेट दिया फिर भी वे मुनिराज पर्वत सम निश्चल ध्यानमग्न बने रहे। यद्यपि आनंदमाल मुनि किंचित् भी विकार को प्राप्त नहीं हुए थे किन्तु उन्हीं के समीप उनके छोटे भाई कल्याणमाल मुनि प्रतिमायोग से विराजमान थे सो तुम्हारे इस कुकृत्य से दुःखी होकर उन्होंने प्रतिमायोग का संकोच कर तथा लम्बी और गरम श्वांस भर कर तुम्हारे लिए इस प्रकार कहा कि तुमने इन निरपराध मुनिराज का तिरस्कार किया है इसलिए तुम भी बहुत भारी तिरस्कार को प्राप्त होवोगे।

वे मुनि अपनी अपरिमित श्वांस से तुम्हें भस्म ही कर देना चाहते थे परन्तु तुम्हारी सर्वश्री नामक भार्या ने उन्हें शांत कर लिया। तुम्हारी सर्वश्री रानी सम्यग्दर्शन से युक्त तथा मुनिजनों की पूजा करने वाली थी इसलिये उत्तम हृदय के धारक मुनि भी उसकी बात मानते थे। यदि वह साध्वी उन मुनिराज को शांत नहीं करती तो उनकी क्रोधाग्नि कौन रोक सकता था ? ''जो मनुष्य साधुजनों का तिरस्कार करते हैं वे तिर्यंचगति और नरकगति में महान दुःख पाते हैं। जो मनुष्य मन में साधुओं का पराभव करते हैं वे इस लोक और परलोक में परम दुःख को प्राप्त होते हैं''[1] जो दुष्ट चित्त मनुष्य निर्ग्रंथ मुनियों को गाली देते हैं अथवा मारते हैं उन पापी मनुष्यों के विषय में क्या कहा जावे? मनुष्यों के मन-वचन-काय से किये गये अशुभ कर्म छूटते नहीं हैं, समय पाकर वे निकाचित कर्म अवश्य ही फल देते हैं।

इस प्रकार से मुनिराज के द्वारा कहने पर तथा उनके पूर्वभवों की घटना को भी सुनाने पर राजा इन्द्र को तत्क्षण ही अपने पूर्वजन्मों का स्मरण हो

---

1. विधाय साधुलोकस्य तिरस्कारं जना महत्।
दुःखमत्र प्रपद्य से तिर्यक्षु नरकेषु च।।94।।
मनसापि हि साधूनां पराभूतिं करोति यः।
तस्य सा परमं दुःखं परत्रेह च यच्छति।।95।। (पद्मपुराण, पर्व 13)

आया। इस भव में अपने द्वारा किये गये मुनिराज के तिरस्कार को भी स्मरण करता हुआ वह इन्द्र महान दुःख को प्राप्त हुआ। गुरुदेव की बार-बार स्तुति करके अपने पुत्र को राज्यलक्ष्मी का भार सौंप दिया, अनंतर अपने अनेक पुत्रों और लोकपालों के समूह के साथ जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। यद्यपि उनका शरीर इन्द्र के समान लोकोत्तर भोगों से ललित हुआ था तो भी उन्होंने असाधारण तप का भार धारण कर लिया। तदनन्तर बहुत काल तक घोर तपश्चरण करके अन्त में शुक्लध्यान से कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त हो गये।

आज भी ऐसे उदाहरण देखने में आते रहते हैं कि जो अपने धन या विद्या के मद में गर्विष्ठ हो मुनि अथवा आर्यिका आदि त्यागी वर्गों की निंदा करते हैं, उनका झूठा अप-प्रचार करते हैं वे निश्चित ही अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करते हैं। जो पापभीरू हैं, वे तो उस पाप के फल को भोगकर पुनः त्यागियों की निंदा करना छोड़ देते हैं किन्तु यदि वे दीर्घकर्मी हैं तो न केवल अधिक-अधिक ही मुनि निंदा करते रहते हैं बल्कि निंदा करने का अपना एक धंधा ही बना लेते हैं।

शास्त्रों में तो ऐसा बतलाया गया है कि देव, धर्म या गुरु की निंदा से निकाचित् कर्मों का बंध हो जाता है जिसका फल बिना भोगे नहीं छूटता है। इस जन्म में, अगले जन्म में अथवा अनेकों जन्म के अनंतर भी वह बंधा हुआ कर्म अपना फल देता ही देता है, इसलिये सदा गुरुओं की भक्ति और विनय करना चाहिए।

गुरुओं की विनय के बल पर ही अर्जुन विशेष धनुर्धारी प्रसिद्ध हुये हैं। अनेकों मुनि व श्रावकों ने भी विनय के बल से मोक्षमार्ग को प्रशस्त किया है। एक उदाहरण देखिये–

एक तापसी जलस्तंभिनी विद्या के बल से यमुना के मध्य ध्यान करता था। किसी समय एक विद्याधर की पत्नी अपने पति के उसकी प्रशंसा करने लगी। विद्याधर ने कहा कि यह मिथ्या तपस्वी है। देखो! इसकी अज्ञानता मैं तुम्हें दिखाता हूँ। विद्याधर युगल ने चांडाल का वेष बनाकर नदी के किनारे बड़ा सा महल बनाया और भी अनेकों चमत्कार करने लगे। साधु ईश्वर ध्यान

आदि छोड़कर आकर बोला – महाशय! यह विद्या हमें भी दे दीजिये। विद्याधर ने कहा मैं चांडाल हूँ, तुम ब्राह्मण हो पुनः कैसे गुरु-शिष्य संबंध बन सकेगा ?...खैर, उसके अनुनय-विनय पर विद्याधर ने उसे वह विद्या दे दी। उस तापसी ने राजा के पास अपना चमत्कार दिखाना चाहा। इसी बीच में ये विद्याधर युगल चांडाल वेष में उसके सामने पहुँचे। साधु ने मन में सोचा ये नीच इस समय मेरा चमत्कार घटाने के लिये क्यों आ गये? उसी समय उसकी विद्या समाप्त हो गई। तब लज्जित होकर तापसी ने सारी बातें बता दीं। राजा ने उन चांडाल दंपती को नमस्कार कर विद्या माँगी। चांडाल ने कहा यदि आप कहीं भी मुझे देखें तो ऐसा कहें कि ''मैं आपकी ही चरण कृपा से जीता हूँ'' तब तो मैं आपको विद्या दे सकता हूँ। राजा ने स्वीकार कर लिया, चांडाल ने उसे विद्या दे दी।

एक दिन राजा सिंहासन पर बैठे थे, उनके पास बहुत मंत्रीगण व सभासद बैठे हुये थे। उसी समय ये चांडाल युगल आये, राजा ने सिंहासन से उठकर नमस्कार करके विनय से कहा – ''प्रभो! मैं आपके चरणों की कृपा से ही जीता हूँ।'' इतना कहते ही वह सम्यग्दृष्टी विद्याधर बहुत प्रसन्न हुआ। राजा की विनय से प्रभावित होकर उन्होंने अपने विद्याधर दंपती के असली रूप को प्रगट किया और सम्यक्त्व के माहात्म्य को तथा विनय गुण के माहात्म्य को बतलाकर राजा को अनेकों और भी विद्याओं को देकर वे अपने विजयार्ध पर्वत पर चले गये। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब लौकिक कार्य भी बिना गुरु की विनय के सिद्ध नहीं हो सकते तो परमार्थ कार्य की सिद्धि होना असंभव ही है अतः जो मनुष्य दर्शन, ज्ञान आदि की विनय करते हुये अपने गुरुओं की अतिशय विनय करते हैं, वे ही इस विनयसंपन्नता भावना को प्राप्त कर लेते हैं।

शीलव्रतेष्वनतिचार भावना

चरित्रविकल्पेषु शीलव्रतेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतिचारः।।3।।

अहिंसा आदि व्रत हैं तथा उनके परिपालन के लिये क्रोधादि का वर्जन करना सो शील है। इन व्रतों और शीलों में मन-वचन-काय की निर्दोष प्रवृत्ति करना शीलव्रतेष्वनतिचार भावना है।

पाँच महाव्रतों के परिपूर्ण पालन करने के लिए जो उनकी पचीस भावनायें हैं, पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप चारित्र हैं वे सब भी शील नाम से कहे जाते हैं अथवा अट्ठाईस मूलगुणों को व्रत समझने पर बारह तप व बाईस परीषहजय ये चौंतीस उत्तर गुण भी शील शब्द से कहे जाते हैं। श्रावकों के पाँच अणुव्रत व्रत हैं एवं तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सात शील कहलाते हैं। वृत्ति में अकलंक देव ने क्रोधादि के त्याग करने को शील कहा है चूँकि ये कषायें व्रतों का विघात कर देती हैं।

उदाहरण के लिये देखिये – एक गुणनिधि नामक मुनिराज ने आहार का त्याग कर पर्वत के शिखर पर चार माह के लिये वर्षायोग धारण कर लिया। सुर-असुर देव उनकी स्तुति करने लगे। वे मुनि चारण ऋद्धि के धारक थे, धीर-वीर थे। चार माह का योग समाप्त कर कहीं आकाशमार्ग से विहार कर गये। उसी समय मृदुमति नाम के मुनिराज आहार हेतु उसी नगर में आये। तब राजा और नगरवासियों ने यही समझा कि ये वे ही महामुनि हैं जिनकी देव पूजा करते थे और कहने भी लगे – हे मुनिवर! आप धन्य हैं, आपकी देवगण भी वंदना करते थे। ऐसा सुनकर भी इन मुनि ने मायाचारी से कुछ उत्तर नहीं दिया और सोचा कि मुझे उन मुनि के रूप में जानकर लोग अधिक पूजा करेंगे अन्यथा कम करेंगे इत्यादि, आगे वे मुनिराज मरकर स्वर्ग में देव हो गये अनंतर वहाँ से च्युत हो इस मायाचारी के पाप से वह त्रिलोकमंडन नाम का हाथी हो गया जो रावण के यहाँ था, पुनः रामचंद्र जी उसे अयोध्या में ले आये थे। ऐसा केवली भगवान ने श्री रामचंद्र आदि को बताया था। कहने का मतलब यही है कि क्रोध आदि कषायें व्रतों को दूषित करके जीव को दुर्गति में डाल देती हैं।

''हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पाँचों पापों से परलोक में भले ही दुःख हो किन्तु इस लोक में तो सुख मिलता ही है और अपने को तो इस जन्म में ही आनंद चाहिये। परलोक भला किसने देखा है?''

''नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं है। पापों के सेवन से इस जन्म में भी अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। हिंसक, क्रूर, झूठे, चोर व कुशीली लोग अच्छे लोगों की नजर में निंद्य, पापी गिने जाते हैं और विश्वास के अपात्र हो जाते हैं। एक पौराणिक इतिवृत्त को देखिए–

किसी समय विदेह क्षेत्र में एक मुनिराज सर्प सरोवर के निकट के वन में आये। एक देवयुगल ने उनके दर्शन करके संतुष्ट होकर मुनिराज से धर्मोपदेश देने की प्रार्थना की तब मुनिराज कहने लगे–

मैं अभी नवदीक्षित हूँ अतः धर्मोपदेश देने में समर्थ नहीं हूँ चूँकि यह उपदेश देने का कार्य समस्त शास्त्रों में पारंगत मुनियों का ही है फिर भी किंचित् कहता हूँ सो सुनो। ऐसा कहकर मुनिराज ने सम्यग्दर्शन, सत्पात्रदान, श्रावक धर्म व मुनिचर्या आदि का किंचित् उपदेश दिया। पुनः देव कहता है–

''भगवन्! आपने किस कारण से मुनि दीक्षा ली है सो कृपा कर कहिये!'' मुनिराज बोले–विदेह क्षेत्र की पुंडरीकिणी नगरी में मैं एक दरिद्र कुल में उत्पन्न हुआ। मेरा नाम भीम रखा गया। कुछ बड़ा होने पर काललब्धि आदि के निमित्त से एक दिन मैंने एक मुनिराज के दर्शन किये। उनके पास में आठ मूलगुण ग्रहण कर लिये और घर आ गया। जब पिता को इस बात का पता चला तो वे कहने लगे–अरे पुत्र! हम लोग महादरिद्री हैं सो हम लोगों को व्यर्थ के इन कठिन व्रतों से क्या प्रयोजन! इनका फल इस लोक में तो मिलता नहीं, अतः आ चल! स्वर्ग के इच्छुक उस मुनि को ही ये व्रत वापस कर आवें। हम लोग तो इस लोक संबंधी फल चाहते हैं जिससे कि जीविका चल सके अतः व्रत देने वाले गुरु का स्थान मुझे दिखा। ऐसा कहकर पिता मुझे साथ लेकर चल पड़े।

मार्ग में मैंने देखा कि वज्रकेतु नाम के एक पुरुष को दण्ड दिया जा रहा है तब मैंने पिताजी से कारण पूछा और वे ज्ञात कर कहने लगे–

''यह सूर्य की किरणों में अनाज सुखा रहा था, किसी मंदिर का मुर्गा

उसे खाने लगा तब उसको इसने इतना मारा कि वह मर गया इसलिये लोग इसे दण्ड दे रहे हैं।''

आगे बढ़कर मैंने देखा धनदेव की जीभ निकाली जा रही है। पूछने पर पिताजी ने बताया कि ''इसने जिनदेव के द्वारा रखी गई धरोहर को हड़प लिया और झूठ बोल गया, भेद खुलने पर इसकी जीभ उखाड़ी जा रही है।''

आगे देखा रतिपिंगल को शूली पर चढ़ाने के लिये ले जा रहे हैं। पूछने पर ज्ञात हुआ, ''इसने एक सेठ के घर से बहुमूल्य मणियों का हार चुराकर एक वेश्या को दे दिया सो कोतवाल द्वारा पकड़ा जाने पर इसे प्राणदण्ड की आज्ञा हुई है।''

आगे बढ़ने पर देखा कि ''एक कोतवाल का सिपाही किसी व्यक्ति का गुह्य अंग काट रहा है। पूछने पर पता चला कि इस पापी ने अपनी मौसी की पुत्री के घर जाकर रात्रि में उससे व्यभिचार किया है अतः राजाज्ञा से राज्य कर्मचारी इसे ऐसा दण्ड दे रहे हैं।''

और आगे बढ़ने पर देखा कि लोल नामक किसान विलाप कर रहा है। पूछने पर मालूम हुआ कि ''इसने खेत के लोभ से अपने बड़े लड़के को डंडों से इतना मारा कि वह मर गया। इससे उसे देशनिर्वासन दंड दिया गया है अतः यह बिलख रहा है।''

आगे बढ़ते ही देखा कि सागरदत्त ने जुएँ में समुद्रदत्त का बहुत सा धन जीत लिया परन्तु समुद्रदत्त उस धन को देने में असमर्थ था अतः उसने क्रोध से बहुत देर तक समुद्रदत्त को दुर्गन्धित धुएँ के बीच में बैठा रखा है। पुनः किसी जगह मैंने देखा कि ''आनंद महाराजा द्वारा अभय घोषणा कराये जाने पर भी उन्हीं के पुत्र अंगद ने राजा के मेंढे को मार कर खा लिया है। इसके दण्ड में उसके हाथ काट कर उसे विष्ठा का भक्षण कराया जा रहा है।'' ''पुनः अन्य स्थान पर देखता हूँ कि शराब पीने वाली महिला ने शराब खरीदने के लिए किसी के बालक को मारकर जमीन में गाड़ दिया और उसके जेवर निकाल लिये। भेद खुल जाने पर राजकर्मचारी उसे दण्ड दे रहे हैं।''

हिंसा आदि पापों से होने वाले इन फलों को मैंने प्रत्यक्ष में देखा अतः मैंने यह निश्चय कर लिया कि ये महापाप इस भव में तो नाना दुःख देने वाले हैं

ही तथा परलोक में भी इनका फल नरक-निगोद ही है। मैंने भी जो दरिद्रता पाई है वह भी तो पाप ही का फल है अतः मैंने अपने पिता को छोड़कर मोक्ष की इच्छा से उन्हीं गुरु के पास जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली है। गुरु के प्रसाद से मैं शीघ्र ही सर्वशास्त्र समुद्र का पारगामी हो गया हूँ और मेरी बुद्धि भी विशुद्ध हो गई है इसलिये पाप और पुण्य का फल इस जीव को संसार में भोगना ही पड़ता है। उसी के फलस्वरूप अनेक दुःख और राज्यवैभव आदि सुख भी मिलते रहते हैं। जब पुण्य-पाप को छोड़कर यह जीव निर्विकल्प ध्यान में स्थित हो जाता है तब शुद्धोपयोग के बल से कर्मों का नाश कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है अतः परलोक और मोक्ष आदि को भी स्वीकार करना ही चाहिये।

मुनिराज के इस अपनी दीक्षा के कारण को सुनकर देव अति प्रभावित हुये।

ये व्रत गृहस्थों के लिये अणुव्रतरूप होते हैं और निरतिचार पालन करने पर नियम से स्वर्ग को प्राप्त कराते हैं तथा मुनियों के महाव्रतरूप होते हैं। वे मोक्ष के कारण हैं कदाचित् इस भव में मोक्ष न प्राप्त करा सकें तो स्वर्ग तो नियम से प्राप्त कराते ही हैं।

जो मुनि या श्रावक अपने महाव्रत या अणुव्रतों को निर्दोष पालते हैं, अतीचार नहीं लगाते हैं। जैसे कि अहिंसाणुव्रत के पशु आदि जीवों का वध, बंधन, अंगछेदन, अतिभार आरोपण और अन्नपान का निरोध ये पाँच अतिचार हैं। इन अतिचारों को श्रावकाचार से समझकर श्रावकों को अपने व्रतों को निर्दोष बनाना चाहिये और सात शीलों के भी अतिचार छोड़ना चाहिए। मुनियों को भी महाव्रत और समिति आदि के अतिचारों को दूर करके उन्हें निर्मल बनाना चाहिये। निरतिचार व्रत और शील नियम से स्वर्ग-मोक्षरूप फल देते हैं तथा दर्शनविशुद्धिपूर्वक इस भावना को प्राप्त करने से तीर्थंकर प्रकृति का भी बंध कर लेते हैं।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना

ज्ञानभावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोगः।।4।।

जीवादि पदार्थों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जानने वाले मति, श्रुत, अवधि आदि पाँच ज्ञान हैं। इनमें से जो जिनेन्द्र भगवान् के मुखकमल से निकले हुए वचन हैं, उन्हें ही गणधर आदि ऋषियों ने आगम रूप से गूँथा है। उन्हीं की परम्परागत अंश आज भी ग्रंथों में अनुबद्ध है। उन ग्रंथों को गुरुमुख से पढ़ना-पढ़ाना, अभ्यास करना आदि अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। इन मति, श्रुत आदि ज्ञानों का साक्षात् फल है अज्ञान का दूर हो जाना तथा हित की प्राप्ति, अहित का परिहार और उपेक्षा का होना यह भी फल है और आगे चलकर इस अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का फल है पूर्ण ज्ञानस्वरूप अपने आत्मा की उपलब्धि कर लेना अर्थात् अक्षय सुख को प्राप्त कर लेना।

श्री कुंदकुंद आदि महान आचार्यों ने हमेशा ग्रंथ रचना में अपना समय बिताया है। इससे स्पष्ट है कि उन महान् आचार्यों ने ग्रंथ रचना के पहले चारों अनुयोगों का बहुत ही गहरा अध्ययन किया था। उनकी रचनाओं से उनका सर्वांगीण महान् ज्ञान लक्षित हो जाता है। ज्ञानाभ्यास से असंख्यात गुण श्रेणी कर्मों की निर्जरा होती है जैसा कि धवला में कहा है– ''सुत्तं पुण समयं पडि असंखेज्जगुणसेढीए पावं गालिय पच्छा सव्वकम्मक्खयकारणमिदि।''[1] सूत्र प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणीरूप से पापों का नाश करके उसके बाद संपूर्ण कर्मों के क्षय का कारण होता है।

श्री कुंदकुंद देव कहते हैं–

''सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।।[2]

जिनसूत्र और उनके जानने वाले पुरुष सम्यक्त्व के लिये निमित्त हो जाते हैं तथा दर्शनमोह का क्षय, क्षयोपशम आदि होना यह अंतरंग हेतु है। जब जिनवचन में इतनी सामर्थ्य है कि जो मिथ्यात्व का अभाव कर दे तो कहना ही क्या? ये जिनवचन परम औषधि स्वरूप हैं। विषय सुख का विरेचन कराने

1. धवला पुस्तक, प्र., पृ. 43। 2. नियमसार, गाथा 2।

वाले हैं और अमृत स्वरूप रसायन हैं; जन्म, जरा और मरणरूप व्याधि के तथा सर्व दुःखों के भी क्षय करने में समर्थ हैं। मुनियों के लिए दिन-रात में चार बार स्वाध्याय का विधान है। और तो क्या यह स्वाध्याय सर्व बारह प्रकार के तपों में महान् सर्वश्रेष्ठ तप है। एक बार भी विनयपूर्वक पढ़ा गया शास्त्र यदि भूल भी जावें तो भी वह कालांतर में ज्यों की ज्यों उपलब्ध हो जाता है और केवलज्ञान तक को प्राप्त करा देता है।

एक वीरभद्र मुनिराज अर्द्धरात्रि में अकाल में स्वाध्याय कर रहे थे। एक देवी ग्वालिन का वेष लेकर वहाँ छाछ बेचने लगी। मुनिराज ने कहा कि "तू क्या पागल हो गई है? अरे इस निर्जन वन में और रात्रि में छाछ कौन लेगा?" उसने कहा "मुनिवर्य! मुझे तो आप ही पागल दिख रहे हैं चूँकि अकाल में अध्ययन कर रहे हैं।" मुनिराज ने अर्धरात्रि के अकाल को समझकर स्वाध्याय बंद कर दिया। पुनः प्रातः गुरु के पास प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि करके काल में अध्ययन के प्रभाव से उत्तम देवपद को प्राप्त किया है।

इसके विपरीत एक उदाहरण है कि–

एक शिवनंदी नाम के मुनिराज थे। गुरु ने उन्हें बताया था कि रात्रि में श्रवणनक्षत्र का उदय हो जाने पर स्वाध्याय का समय होता है उसके पहले अकाल है। उन्हें ऐसा मालूम होते हुये भी वे अपने तीव्रकर्म के उदय से उस गुरु-आज्ञा की अवहेलना करके अकाल में स्वाध्याय किया करते थे। फलस्वरूप अंत में असमाधि से मरण करके पापकर्म के निमित्त से गंगा नदी में महामत्स्य हो गये। आचार्यों ने ठीक ही कहा है कि–

'जिनाज्ञालोपने नैव पाणी दुर्गतिभाग्भवेत्।'[1]

जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का लोप करने पर यह प्राणी दुर्गति में चला जाता है।

पुनः उस नदी के तट पर स्थित एक महामुनि उच्च स्वर से स्वाध्याय कर रहे थे। इस मत्स्य ने उस पाठ को सुना तो इसे जातिस्मरण हो गया "ओहो! मैं भी इन्हीं के सदृश मुनिवेष में ऐसे ही स्वाध्याय करता रहता था पुनः मैं इस तिर्यंच योनि में कैसे आ गया? हाय! हाय ! मैं जिनागम की और गुरु की आज्ञा को कुछ न गिनकर अकाल में भी स्वाध्याय करता रहा जिसके

1. आराधना कथाकोश, कथा 88।

फलस्वरूप मुझे यह निकृष्ट योनि मिली है। सच में आगम के पढ़ने का फल तो यही है कि उसके अनुरूप प्रवृत्ति करना, अब मैं क्या करूँ ? कुछ क्षण सोचकर वह मत्स्य किनारे पर आकर गुरु के सन्मुख पड़ गया। गुरु ने उसे भव्य जीव समझकर सम्यक्त्व ग्रहण कराया तथा पंच अणुव्रत दिये। उस मत्स्य ने भी सम्यक्त्व के साथ-साथ अणुव्रत को पालते हुये जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों को अपने हृदय में धारण किया और आयु पूर्ण करके मरकर स्वर्ग में महर्द्धिक देव हो गया।

''स्वाध्याय के लिये काल और अकाल कब-कब होते हैं ?''

प्रातः, सायं, मध्यान्ह और अर्धरात्रि के मध्य के डेढ़-डेढ़ घण्टे का समय अकाल है, ऐसे दिग्दाह, उल्कापात, दुर्दिन, संक्राति का दिन आदि भी अकाल है। इनसे अतिरिक्त काल सुकाल है। यह व्यवस्था सिद्धांत ग्रंथादिकों के लिये बताई गई है किन्तु आराधना ग्रंथ, कथा ग्रंथ या स्तुति ग्रंथों को अकाल में पढ़ने का निषेध नहीं है। इस काल और अकाल का विशेष वर्णन मूलाचार, अनगार धर्मामृत एवं धवला की नवमी पुस्तक में देख लेना चाहिए।

अतः इन उदाहरणों से सुकाल में अध्ययन करना चाहिये और इतर समय में सामायिक, स्तवन, वंदना आदि क्रिया करके पढ़े हुए ग्रंथों का मनन, चिंतवन करना चाहिये।

संवेग भावना

संसार दुःखन्नित्यभीरुता संवेगः।।5।।

शारीरिक, मानसिक आदि अनेक प्रकार के दुःख हैं। इनसे तथा प्रिय वियोग, अप्रिय संयोग और इष्ट के अलाभ आदि रूप सांसारिक दुःखों से नित्य ही भयभीत रहना संवेग है। हमेशा संसार और शरीर के स्वरूप का विचार करते रहने से यह संवेग भाव उत्पन्न हेाता है। श्री उमास्वामी आचार्य कहते हैं– **''जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थं।''**

संसार और शरीर के स्वभाव का चिंतवन करना संवेग और वैराग्य के लिये होता है।

संसरणं संसार– संसार में चतुर्गतियों में परिभ्रमण करने का नाम संसार है। परिवर्तन के पाँच भेद होते हैं– द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भव परिवर्तन और भाव परिवर्तन। इन पंच परिवर्तन के स्वरूप का चिंतवन करना। इस अनादि संसार में अनंतानंत काल व्यतीत हो चुका है, सभी के साथ अपना संबंध हो चुका है, कोई ऐसा जीव नहीं होगा कि जो मेरा माता-पिता न हुआ हो अथवा पुत्र, स्त्री, मित्र या शत्रु न बना हो पुनः किसको अपना समझना और किसको पराया। जिस समय श्री रामचंद वन में जाने को तैयार हुए उस समय पतिव्रता सीता ने पति के साथ वन में विचरण कर वन के दुःखों को कुछ नहीं गिना तथा रामचंद्र जी भी सीताहरण के प्रसंग में अतीव व्याकुल हुये थे। लाखों उपायों के द्वारा युद्ध में रावण को समाप्त कर सीता को वापस लाये किन्तु जिस समय प्रजा के किंचित् मात्र आरोप से सीता को निर्जन वन में छुड़वाया, उस समय वे अपने कर्तव्य को सीता के प्रेम को, सब कुछ भूल गये। यदि वे चाहते तो उसी समय अग्निपरीक्षा आदि के द्वारा सीता को निर्दोष सिद्ध कर देते। इतना सब कुछ होने पर सती सीता ने रामचंद्र को दोष न देकर अपने भाग्य को ही दोषी ठहराया और संसार के स्वरूप का विचार करते हुये अंत में दिव्य परीक्षा

में उत्तीर्णता प्राप्त कर रामचंद्र के अनेकों अनुनय-विनय करने पर भी सर्वसुख वैभव को ठुकराकर आर्यिका दीक्षा ले ली।

शरीर से वैराग्य के विषय का उदाहरण भी देखिये–

किसी समय सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप की प्रसंशा सुनकर दो देव मध्यलोक में आये। पहले छिपकर उनके रूप को देखकर प्रसन्न हुये। अनंतर द्वारपाल से राजा से मिलने को कहा, राजाज्ञा पाकर सभा में पहुँचे, तब उन्होंने कहा– महाराज! कुछ देर पहले आपका जो रूप था सो अब नहीं रहा। सभी ने पूछा सो कैसे? देवों ने एक घड़े में जल भरकर पुनः एक तिनके से एक बूँद जल निकाला और पूछा क्या जल कम हो गया है ? सभी ने कहा– नहीं, ज्यों का त्यों घड़ा भरा हुआ है। तब देव ने कहा कि जैसे जल की हानि होने पर भी आपको चर्म चक्षु से दृष्टिगोचर नहीं हो रही है वैसे ही राजा का रूप घट जाने पर भी आप लोगों को दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। राजा को इस प्रसंग से वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे शरीर से निःस्पृह होकर महामुनि बनकर घोर तपश्चरण करने लगे। कुछ दिन बाद उनके शरीर में भयंकर से भयंकर कुष्ठ आदि रोग उत्पन्न हो गये। वे महातपस्वी जिनकल्पी मुनि पूर्ण निःस्पृह थे। उन्हीं दोनों देवों ने पुनः परीक्षा करते हुए वैद्य का रूप बनाया और मुनि की चिकित्सा करनी चाही। मुनिराज ने कहा यदि आप मेरे जन्म-मरण रोग को नष्ट कर सकते हैं तो मेरी चिकित्सा कीजिये। इस उत्तर से वे देव अपने रूप को प्रकट कर उनकी स्तुति करने लगे। वास्तव में यह शरीर रोगों का घर है– आचार्यों ने कहा है–

व्याधेः कोट्यः पंच भवंत्यष्टाधिकषष्टि लक्षाणि।
नव नवति सहस्राणि पंचशती चतुरशीत्यधिका।।1।।
एतत्संख्यान् महारोगान् पश्यन्नपि न पश्यति।
इंद्रियैर्मोहितो मूढ़ः परलोकपराङ्मुखः।।2।।

पाँच करोड़ अड़सठ लाख, निन्यानवे हजार, पाँच सौ चौरासी इतने रोग एक शरीर में होते हैं। इन संख्यातों महारोगों को देखता हुआ भी यह

नहीं देखता है क्योंकि यह मूढ़ प्राणी इन्द्रियों से मोहित हुआ परलोक से पराङ्मुख हो रहा है।

किसी समय की घटना है चक्रवर्ती वज्रदंत अपने सिंहासन पर आरूढ़ थे। इतने में वनपाल ने एक सुगंधित कमल लाकर उन्हें अर्पित किया, राजा ने बड़ी प्रसन्नता से उसे सूँघा। उस कमल के भीतर एक गंधलोलुप भ्रमर मरा पड़ा था। राजा उस भ्रमर को देखते ही संसार के भोगों से विरक्त हो गये।चक्रवर्ती का इतना विशाल वैभव वैराग्यरूपी संपत्ति भी उन्हें पुराने तृण के समान तुच्छ भासने लगा। उस समय चक्रवती अपने राज्य का भार पुत्र अमिततेज को देना चाहते हैं तब वह बोलता है – पिताजी! जब आप ही इस वैभव को छोड़ना चाहते हैं तब हमें भी यह क्यों कर चाहिये? इसे आप अस्थिर समझकर ही स्थिर सुख की आकांक्षा से छोड़ रहे हैं अतः हमें भी इस तुच्छ राज्य के अतिरिक्त अलौकिक आत्मिक साम्राज्य ही चाहिये।

जब राजा ने सभी पुत्रों का यह निश्चय देखा तब वे अमिततेज के पुत्र पुंडरीक को जो कि अभी बालक ही था, उसी को राज्यतिलक करके दीक्षा के लिए वन में चले गये। वहाँ यशोधर तीर्थंकर के शिष्य गुणधर मुनिराज के समीप वे दीक्षित हो गये। उस समय उनके साथ साठ हजार रानियों ने अर्यिका दीक्षा ले ली तथा बीस हजार राजाओं ने और एक हजार पुत्रों ने मुनि दीक्षा ले ली।

तब रानी लक्ष्मीमती पति और पुत्र के वियोग से शोक को प्राप्त हुई सोचने लगीं कि इतना छोटा बालक पुंडरीक इतने विशाल राज्य को कैसे संभालेगा? पुनः रानी ने सोच-विचार कर अपने जमाई (पुत्री श्रीमती के पति) राजा वज्रजंघ के पास सारा समाचार भेजा और कहलाया कि आप आकर इस राज्य की व्यवस्था सुचारू करें। इस समाचार को विदित कर राजा वज्रजंघ रानी श्रीमती के साथ वहाँ पहुँचे और व्यवस्था संभाली। सभी आश्रित राजाओं को पूर्ववत् अपने-अपने कार्यों में नियुक्त करके वे महाराज

पुंडरीक बालक को राज्यसिंहासन पर आरूढ़ कर कुशल मंत्रियों के हाथ में राज्यभार सौंप कर वापस आ गये।

मार्ग में जाते समय राजा वज्रजंघ ने अपने ही युगल पुत्रों को, मुनिवेष में चारण ऋद्धिधारी महामुनियों को आहारदान देकर असीम पुण्य संचित किया था अर्थात् वज्रजंघ नृपाति के पिता वज्रबाहु जब दीक्षित हुये थे तब उनके साथ वज्रजंघ के 98 पुत्र सभी के सभी दीक्षित हो गये थे। उनमें से अंतिम दो पुत्र चारणमुनि के रूप में उनके पड़ाव में आये और राजा ने आहारदान देकर पंचाश्चर्य को प्राप्त किया था।

कहने का मतलब यही है कि जब इस जीव को संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य हो जाता है तब यह जीव सभी कुटुम्बियों से पूर्णतया निर्मम हो जाता है। यहाँ तक कि वह अपने शरीर से भी निर्मम हो जाता है, तभी तो वह केशलोंच आदि कष्टों को प्रसन्नमना, दुःखरूप न समझते हुये सहन कर लेता है।

यदि घर में रहकर भी निर्ममता हो जाती और मुक्ति मिल जाती तो तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र आदि महापुरुष क्यों घर छोड़ते और नग्न होकर क्यों वन में विचरते?

श्री कुंदकुंददेव, श्री अमृतचंद्र सूरि, श्री भट्टाकलंक देव, श्री समंतभद्र आदि मुनि भी इसी पंचम काल में ही हुये हैं। उन्हें हम और आप निर्दोष मानते हैं। पुनः उनकी वाणी के अनुसार पंचम काल के अंत तक निर्दोष मुनियों का अस्तित्व मानना ही होगा। मोक्षपाहुड़ ग्रंथ में श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं-

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे णहु मण्णइ सो हु अण्णाणी।।76।।

इस भरत क्षेत्र में दुःषमकाल में साधुओं को आत्मस्वभाव में स्थित होने पर धर्मध्यान होता है किन्तु जो ऐसा नहीं मानते हैं वे अज्ञानी हैं।

अज्जवि तियरण सुद्धा अप्पा झाएहि लहइ इंदत्तं।
लोयंत्तियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति।।77।।

आज भी रत्नत्रय से शुद्ध साधु आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद प्राप्त कर लेते हैं अथवा लौकांतिक देव हो जाते हैं और वहाँ से च्युत होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

वर्तमान में आचार्य श्री शांतिसागर जी आदि की परम्परा में जो साधु हैं वे सभी आगम की परम्परा के अनुयायी हैं, वे चर्या में सावधान हैं, इनको द्रव्यलिंगी या मिथ्यादृष्टि या हीनचारित्री कहना भी तो अतिसाहस है। जो ऐसा कहते हैं उन्हें एक बार मुनि बनकर निर्दोष चर्या – विधि बता देनी चाहिए। पुनः सारे साधु उनका अनुकरण कर लेंगे।

श्री कुंदकुंददेव ने प्रवचनसार में मुनियों के लिये शिष्यों के संग्रह, अनुग्रह और पोषण का उपदेश दिया है, संघ की व्यवस्था बताई है इसलिए आज भी मुनि हैं और आगे भी पंचमकाल के अंत तक रहेंगे। हाँ! जिस दिन मुनि के हाथ से कर स्वरूप (टैक्स रूप) ग्रास माँगा जायेगा, उस समय मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका चतुर्विध संघ सल्लेखना ग्रहण कर लेंगे और तभी धर्म, राजा और अग्नि का भी अभाव हो जावेगा।

इस प्रकार से मुनियों के संघ का अवलोकन करते हुए संसार और शरीर के स्वरूप का विचार करके अपने संवेग भाव को वृद्धिंगत करना यह पाँचवीं भावना है।

शक्तितस्त्याग भावना

परप्रीतिकरणातिसर्जनं त्यागः।।6।।

पर की प्रीति के लिये अपनी वस्तु को देना त्याग है। भक्ति से दिया गया आहारदान उस दिन पात्र की प्रीति के लिये होता है। दिया गया अभयदान एक भव में दुःखों को दूर करता है किन्तु सम्यग्ज्ञान का दान देने से अनेक भवों के लाखों दुःखों से यह जीव पार हो जाता है। विधिवत् दिये गये ये तीन प्रकार[1] के दान त्याग इस नाम को प्राप्त होते हैं। अन्यत्र ग्रंथों में आहार, औषधि, अभय और ज्ञान ऐसे चार भेद दान के माने हैं। यथा-

''आहारो सहसत्था भयभेओ जं चउव्विहं दाणं।''[2]

आहार, औषधि, शास्त्र और अभय इस तरह दान चार प्रकार का है। धवला में कहा है कि–

'दया बुद्धीए साहूणं णाणदंसण चरित्त परिच्चागो दाणं पासुअ परिचागताणाम। ण चेदं कारणं घरत्थेसु संभवदि, तत्थ चरित्ता भावादो। तिरयणोवदेसो वि ण घरत्थेसु अत्थि, तेसिं दिद्विवादादि उवरिम सुत्तोवदेसणे अहियारा भावादा। तदो एदं कारण महेसिणं चेव होदि।[3] दया बुद्धि से साधुओं द्वारा किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन व चारित्र के दान का नाम प्रासुक परित्यागता है। यह कारण गृहस्थों में संभव नहीं है क्योंकि उनमें चारित्र का अभाव है। रत्नत्रय का उपदेश भी गृहस्थों में संभव नहीं है क्योंकि दृष्टिवाद आदि उपरिम श्रुत के उपदेश देने में उनका अधिकार नहीं है अतएव यह कारण महर्षियों के ही होता है।' इस परमागम के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नत्रय के दान से बढ़कर और कोई दान नहीं है तथा इसको देने का व आगम के उपदेश का अधिकार भी मुनियों को ही है, साधारण लोगों को नहीं है।

श्रावकों के आहारदान, औषधिदान आदि का महत्त्व भी अचिन्त्य है। एक समय राजा वज्रजंघ रानी श्रीमती के साथ वन में चारण युगल मुनि को आहार दे रहे थे। उस समय उनके मंत्री, पुरोहित, सेनापति और सेठ ये चारों लोग

---

1. तत्त्वार्थवार्तिक, अ. 6। 2. वसुनन्दिश्रावकाचार। 3. धवला पुस्तक 8, पृ. 87।

बड़ी भक्ति से आहारदान देखकर उसकी अनुमोदना कर रहे थे एवं पास में ही शार्दूल, नकुल, वानर तथा सूकर ये चार प्राणी भी आहार देखते हुये हर्षित होकर अनुमोदना कर रहे थे। कुछ दिन बाद राजा वज्रजंघ व रानी श्रीमती अगुरु के धुएँ की गैस से अकस्मात् मृत्यु को प्राप्त हो गये। उस आहारदान के प्रभाव से मरकर युगल दंपती उत्तम भोगभूमि में युगलिया हो गये। उपर्युक्त चारों तिर्यंच भी आहारदान की अनुमोदना मात्र से आयु पूरी कर मरके उसी उत्तम भोगभूमि में आर्य हो गये। इस आहारदान से आठवें भव में राजा वज्रजंघ भगवान् वृषभदेव हुये, रानी श्रीमती का जीव राजा श्रेयांस हुआ। वे मंत्री आदि चारों जन तथा व्याघ्र आदि चारों पशु के जीव क्रम से भगवान् वृषभदेव के पुत्र भरत, बाहुबलि, वृषभसेन, अनंतविजय, अनंतवीर्य, अच्युत, वीर और वरवीर नाम के धारक हुये हैं। यह है आहारदान का फल, ऐसे ही वृषभसेना ने औषधिदान के फल को प्राप्त किया है। सूकर ने अभयदान देकर स्वर्ग पाया है तथा कौंडेश ने ज्ञानदान का फल प्राप्त किया है।

इन चार दानों के सिवाय यहाँ और कोई दान का वर्णन नहीं है जैसा कि एक उदाहरण प्रसिद्ध है–

पूर्व विदेह के पुष्कलावती देश में पुंडरीकिणी नाम की नगरी है। किसी समय वहाँ राजा मेघरथ राज्य करते थे। एक दिन वे आष्टान्हिक पर्व में उपवास करते हुये महापूजा करके जैनधर्म का उपदेश दे रहे थे कि इतने में काँपता हुआ एक कबूतर आया और उसके पीछे बड़े ही वेग से एक गिद्ध आया। कबूतर राजा के पास बैठ गया तब गिद्ध ने कहा राजन्! मैं अत्यधिक भूख की वेदना से आकुल हो रहा हूँ अतः आप यह कबूतर मुझे दे दीजिये। हे दानवीर! यदि आप यह कबूतर मुझे नहीं देंगे तो मेरे प्राण अभी आपके सामने ही निकल जायेंगे। मनुष्य की वाणी में गिद्ध को बोलता देखकर युवराज दृढ़रथ ने पूछा–हे देव! कहिये, इस गिद्ध पक्षी के बोलने में क्या रहस्य है? राजा मेघरथ ने कहा, सुनो–

इस जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में पद्मिनीखेट नाम का एक नगर है। वहाँ के धनमित्र और नंदिषेण नाम के दो भाई धन के निमित्त से आपस में लड़ कर मर गये सो ये कबूतर और गिद्ध पक्षी हो गये हैं और गिद्ध के शरीर में एक

देव आ गया है सो यह बोल रहा है। वह कौन है? सो भी सुनो! ईशानेन्द्र ने अपनी सभा में मेरी स्तुति करते हुय यह कहा कि पृथ्वी पर मेघरथ से बढ़कर दूसरा कोई दाता नहीं है।मेरी ऐसी स्तुति सुनकर परीक्षा करने के लिये एक देव वहाँ से आकर इसके शरीर में प्रविष्ट होकर बोल रहा है किन्तु हे भाई! दान का लक्षण आप सभी को मैं समझाता हूँ सो चित्त स्थिर करके उसे सुनो! स्व और पर के अनुग्रह के लिये जो वस्तु दी जाती है वह दान कहलाता है।

जो शक्ति, विज्ञान, श्रद्धा आदि गुणों से युक्त होता है वह दाता कहलाता है और जो वस्तु देने वाले तथा लेने वाले, दोनों के गुणों को बढ़ाती है उसे देय कहते हैं। ये देय आहार, औषधि, शास्त्र तथा समस्त प्राणियों पर दया करना इस तरह से चार प्रकार का है ऐसा श्री सर्वज्ञदेव ने कहा है। चारों ही शुद्ध देय हैं तथा क्रम से मोक्ष के साधन हैं। जो मोक्षमार्ग में स्थित हैं, अपने आपकी तथा दूसरों की संसार भ्रमण से रक्षा करते हैं वे पात्र कहलाते हैं। इससे अतिरिक्त माँस आदि पदार्थ देय नहीं हैं, इनकी इच्छा करने वाला पात्र नहीं है और इनका देने वाला दाता नहीं है, माँसादि वस्तु के पात्र और दाता ये दोनों तो नरक के अधिकारी हैं। कहने का सारांश यह है कि यह गिद्ध तो दान का पात्र नहीं है और कबूतर देने योग्य नहीं है।

इस प्रकार से मेघरथ की वाणी सुनकर वह देव असली रूप में प्रकट कर राजा की स्तुति करने लगा और कहने लगा कि हे राजन्! तुम अवश्य ही दान के विभाग को जानने वाले दानशूर हो, ऐसी स्तुति करके वह चला गया। उन गिद्ध और कबूतर दोनों पक्षियों ने भी मेघरथ की वही सब बातें समझीं और आयु के अंत में शरीर छोड़कर सुरूप तथा अतिरूप नाम के व्यंतरदेव हो गये। तत्क्षण ही वे दोनों देव राजा मेघरथ के पास आकर स्तुति, वंदना आदि करके कहने लगे हे पूज्य! आपके प्रसाद से ही हम दोनों कुयोनि से निकल सके हैं अतः आपका उपकार हमें सदा ही स्मरण करने योग्य है।

इन चार दानों में भी आहारदान का फल महान है। इसी में देवों द्वारा पंचाश्चर्य वृष्टि होती है ऐसा आगम में कथन है–

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचंद्र ने महामुनि सुव्रत आचार्य के पास में जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उस सम शत्रुघ्न, विभीषण, सुग्रीव, नील आदि

अनेक राजाओं ने अर्थात् कुछ अधिक सोलह हजार साधु हुये और सत्ताईस हजार प्रमुख स्त्रियाँ श्रीमती नामक साध्वी के पास आर्यिकायें हो गईं।

गुरु की आज्ञा पाकर निर्ग्रंथ मुनि श्री रामचंद्र एकाकी विहार को प्राप्त हुये। उत्तम योग के धारक एवं योग्य विधि का पालन करने वाले उन महामुनि को उसी रात्रि में अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया।

तदनंतर पाँच दिन का उपवास कर धीरे-धीरे महातपस्वी योगी श्री रामचंद्र पारणा के लिए विधिपूर्वक नंदस्थली नगरी में आये। वे राम अपनी दीप्ति से तरुण सूर्य के समान सुशोभित हो रहे थे। महाकांति के प्रवाह से पृथ्वी को तर कर रहे थे। ऐसे श्रीराम को देख नगरी के समस्त लोग क्षोभ को प्राप्त हो गए। लोग परस्पर कहने लगे अहो! आश्चर्य देखो, अहो! आश्चर्य देखो, जो पहले कभी देखने में नहीं आया ऐसा यह लोकोत्तर आकार देखो! अहो! इनका धैर्य धन्य है, सत्व पराक्रम धन्य है, रूप धन्य है, कांति धन्य है, शांति धन्य है, मुक्ति धन्य है और गति धन्य है। अहो! चार हाथ आगे जमीन देखकर चलने वाले ये महापुरुष कौन हैं? किस कुल के अलंकार हैं? और आहार ग्रहण कर किस पर अनुग्रह करेंगे। अहो! जिनका पराक्रम रूप पर्वत क्षोभरहित है ऐसे ये पुरुषोत्तम राम हैं। आओ, आओ, इन्हें देखकर अपने मन, दृष्टि, जन्म, कर्म, बुद्धि, शरीर और चरित्र को सार्थक करो। इस प्रकार नगरवासी लोगों का आश्चर्य से भरा हुआ कोलाहलपूर्ण शब्द उठ खड़ा हुआ।

समयानुकूल चेष्टा करने वाले नर-नारियों के समूह से नगर के लम्बे-चौड़े मार्ग भर गये। कोई उत्तम पदार्थों से परिपूर्ण पात्र हाथ में लिए एवं कोई जल की झारी हाथ में लिए उत्सुकता से भरी अनेकों स्त्रियाँ खड़ी हो गईं। अनेक मनुष्य पूर्ण तैयारी के साथ मनोज्ञ जल से भरे हुए कलश ले-लेकर आ पहुँचे। हे स्वामिन्! यहाँ आइये, हे स्वामिन्! यहाँ ठहरिए, हे मुनिराज! प्रसन्नतापूर्वक यहाँ विराजिये। ऐसे पड़गाहन के उत्तमोत्तम शब्द चारों तरफ फैल गये। हर्ष से रोमांचित हुए जन गद्गद होकर जोर-जोर से अस्पष्ट सिंहनाद कर रहे थे। हे मुनीन्द्र! जय हो, हे पुण्य के पर्वत! वृद्धिंगत होवो तथा समृद्धिमान् होवो, इत्यादि वचनों से आकाश व्याप्त हो रहा था।

''शीघ्र ही बर्तन लाओ, थाली को जल्दी देखो, सुवर्ण की थाली जल्दी लाओ, दूध लाओ, गन्ना लाओ, दही पास में रखो, चाँदी के उत्तम बर्तन में शीघ्र ही खीर रखो, शीघ्र ही रबड़ी, शक्कर, मिश्री लाओ, इस बर्तन में कपूर से मिश्रित शीतल जल भरो, शीघ्र ही पूड़ियाँ लाओ, कलश में शीघ्र ही उत्तम शिखरिणी भरो, अरी चतुरे? हर्षपूर्वक उत्तम बड़े-बड़े लड्डू दें।'' इत्यादि रूप से कुल स्त्रियों और पुरुषों के शब्दों से वह नगर तन्मय (शब्दमय) हो गया है।

उस समय उस नगर के लोग इतने संभ्रम में पड़े हुए थे कि भारी जरूरत के कार्य को भी कुछ नहीं गिन रहे थे, न ही कोई अपने बच्चों को ही देख रहे थे।संकरी गलियों में वेग से दौड़ने वाले कितने ही लोगों ने पड़गाहन करने वाले लोगों के हाथों से बर्तन गिरा दिये और कितनों ने उन पड़गाहन विधि करने वाले मनुष्यों को ही गिरा दिया। बहुत से लोग हड़बड़ाहट के कारण विरुद्ध चेष्टाएँ करने लगे। लोगों के उस भारी कोलाहल से और तेज के कारण हाथियों ने भी अपने बाँधने के खम्भे तोड़ दिये। वे हाथी गंडस्थल के मदजल से पृथ्वीतल को भिगोते हुए दौड़ने लगे। गंभीर घोड़े भी कान खड़े करके और आँखों की पुतलियों को स्थित करके घास खाना भूल गये और भयभीत होकर जोरों से हिनहिनाने लगे। बंधन तोड़कर भागते हुए घोड़ों के पीछे घबराये हुये सईस दौड़ रहे थे ऐसे कितने ही घोड़ों ने मनुष्यों को धक्का दे-देकर व्याकुल कर दिया था।

इस प्रकार जब तक दान के इच्छुक मनुष्य पड़गाहन में पारस्परिक महाक्षोभ कर रहे थे, तब तक क्षुभित सागर के समान उनका घोर शब्द सुनकर राजमहल में स्थित राजा प्रतिनंदी सहसा क्षोभ को प्राप्त होकर 'यह क्या है?' ऐसा शब्द करता हुआ अपने परिकर के साथ शीघ्र ही महल की छत पर चढ़ गया। वहाँ से उसने देखा कि पृथ्वी के तिलक ऐसे प्रधान साधु विचर रहे हैं और उन्हीं के निमित्त से यह सारा पृथ्वी को कम्पायमान करने वाला कोलाहल हो रहा है। उसी समय राजा ने बहुत से वीरों को आज्ञा दी कि शीघ्र ही जाकर और प्रीतिपूर्वक नमस्कार कर इन उत्तम योगिराज को हमारे यहाँ ले आवो। वे भट योद्धा क्षण भर में भीड़ को चीरते हुए उन मुनि के पास पहुँच गये और हाथ जोड़ मस्तक से लगाकर विनयपूर्वक कहा – हे भगवन्! 'इच्छित

वस्तु ग्रहण कीजिये' इस प्रकार हमारे राजा भक्तिपूर्वक प्रार्थना करते हैं सो आप उनके घर पधारिये। अन्य जनों द्वारा निर्मित अपथ्य, विवर्ण एवं नीरज भोजन से आपको क्या लाभ? हे महासाधो! आओ, प्रसन्नता करो और इच्छापूर्वक अभिलषित उत्तम आहार ग्रहण करो, ऐसे कहने वाले सिपाहियों ने पड़गाहन विधि में तत्पर हुई उत्तम स्त्रियों को दूर हटा दिया जिससे उनके चित्त विषाद को प्राप्त हो गये।

इस तरह सिपाहियों द्वारा निवेदन किये जाने पर मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचंद्र ने आगम विधि से उसे अंतराय समझ लिया और वे राजा तथा नगरवासी दोनों के यहाँ आहार ग्रहण से विमुख होकर वापिस वन की ओर चले गये। तब लोगों में पहले की अपेक्षा और अधिक क्षोभ हो गया। मुनिराज सघन वन में जाकर प्रतिमायोग धारण कर ध्यान में लीन हो गए और पुनः पाँच दिन का उपवास ग्रहण कर लिया।

प्रश्न—कुछ लोग तो ऐसा कहते हैं कि ऐसे पड़गाहन विधि से जब ग्राम, शहर में कोलाहल हो जाता है सो यह नाटकीय दृश्य साधुओं को नहीं उपस्थित करना चाहिये। एक या दो जन पड़गाहन को खड़े हों, शांति से जाकर आहार करके आना चाहिए?

उत्तर—इस पड़गाहन विधि के दृश्य को नाटकीय दृश्य कहने वाले सचमुच में आगम के विरुद्ध वचन बोलते हैं। देखो! जब रामचंद्र जैसे महायोगी की चर्या भी ऐसी कोलाहलपूर्ण हो गई थी तब यदि आज के युग में कदाचित् क्वचित् मुनियों को देखकर उनकी नवधाभक्ति करने वाले श्रावक भक्ति से विभोर होकर घर-घर के दरवाजे पर खड़े होकर पड़गाहन करते हैं तो कोई बड़ी बात नहीं है, बल्कि आगमोक्त विधि यही है।

प्रश्न—पुनः श्री रामचंद्र जी का आहार कब और कैसे हुआ ?

उत्तर—पुनः योगिराज श्रीराम ने यह नियम कर लिया कि ''यदि इस निर्जन वन में ही मुझे आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं''।

इस प्रकार कठिन व्रतपरिसंख्यान लेकर जब वे मुनि पाँच दिन बाद आहार के लिये निकले तब वहीं नंदस्थली नगरी के राजा ने अपनी रानी सहित उसी वन में पड़गाहन कर आहारदान दिया। दैववश वह राजा उस दुष्ट घोड़े

के द्वारा हरा जाकर उस वन में लाया गया था और रानी भी खोजते हुये वहीं आ पहुँची थीं। उन्होंने वहीं पर भोजन बनाया था। सो अकस्मात् मुनिराज को देखकर नवधाभक्ति से पड़गाहन करके विधिवत् खीर आदि का आहार दिया। उसी समय आकाश से देवों ने रत्नों की वृष्टि आदि पंचाश्चर्य वृष्टि की और जय-जयकार से आकाश को गुँजा दिया। मुनिराज के आहार के बाद रानी के पात्र में खीर आदि अन्न अक्षीण हो गया अर्थात् वृद्धि को प्राप्त हो गया और उस दिन क्षीण ही नहीं हुआ क्योंकि ये महामुनि महान् अक्षीण आदि ऋद्धि के धारक थे। प्रतिनंदी राजा ने देवों के द्वारा रत्नवर्षा आदि पूजा को प्राप्त किया और मुनिराज से देशव्रत को प्राप्त किया जिससे उस विशुद्ध सम्यक्त्वी राजा ने उस दिन अपने जीवन को सफल माना।

इस प्रकार से यह छठी शक्तितस्त्याग भावना है।

शक्तितस्तपो भावना

अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः।।7।।

यह शरीर दुःख का कारण है, अनित्य है, अपवित्र है, यथेष्ट भोगों के द्वारा इसका पोषण करना युक्त नहीं है। यह अपवित्र होते हुए भी अनेक गुणरूपी रत्नों को संचित करने वाला होने से बहुत ही उपकारी है, ऐसा निश्चित समझकर विषय सुखों की आसक्ति छोड़कर अपने कार्यों में इसे नौकर के समान लगाने वाले पुरुष जिनशासन से अविरोधी और यथाशक्ति जो कायक्लेश का अनुष्ठान करते हैं, उसी का नाम तप है।

इस तप के 12 भेद हैं–अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। इनमें से आदि के छह बाह्य तप हैं और अंत के छह अभ्यंतर तप हैं। बाह्य तप साधन हैं और अंतरंग तप साध्य हैं। कहा है–

'बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थं।

हे भगवन्! आध्यात्मिक तप को वृद्धिंगत करने के लिये आपने परम दुश्चर बाह्य तप का आचरण किया।

उपवास का नाम अनशन है–रत्नत्रय, दशलक्षण, आष्टान्हिक आदि के उपवास करना आदि। भूख से कम खाना अवमौदर्य है। कुछ नियम लेकर आहार के लिये जाना वृत्तपरिसंख्यान है, रसों का त्याग करना रसपरित्याग है, एकांत स्थान में या जिनमंदिर व गुरुओं के संघ में रहना–शयन करना, उठना-बैठना सो विविक्त शय्यासन है और आतापन योग आदि से शरीर को क्लेशित करना कायक्लेश तप है। दोषों के हो जाने पर गुरु से निवेदन कर प्रायश्चित लेना प्रायश्चित तप है। दर्शन आदि की व गुरुओं की विनय करना विनय तप है। आचार्य आदि गुरुओं की वैयावृत्ति करना वैय्यावृत्ति तप है। जिनदेव कथित आगम को पढ़ना-पढ़ाना आदि स्वाध्याय है। अंतरंग व बहिरंग परिग्रह का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है और आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान को ध्याना ध्यान तप है। इस अंतिम तप की

सिद्धी के लिये ही सर्व तप किये जाते हैं। अनशन तप के काम्य, अकाम्य आदि अनेक भेद हैं।

राजा हेमवर्ण ने विधिवत् चारित्र शुद्धि नाम के 1234 उपवास किये फलस्वरूप सोलहवें स्वर्ग में इंद्र हुये। वहाँ से च्युत होकर विदेह क्षेत्र में चंद्रभान नाम के तीर्थंकर हो गये। ऐसे ही अनेक उदाहरण हैं। 'तपसा निर्जरा च।' इस सूत्र के अनुसार तप से संवर और निर्जरा ये दोनों ही होते हैं। तप के प्रभाव से अनेक ऋद्धियाँ सिद्ध हो जाती हैं। मंदोदरी के पिता राजा मय को मुनि अवस्था में सर्वौषधि ऋद्धि प्रकट हो गयी थी। एक रानी ने उनको स्पर्श कर विष से मूर्च्छित अपने पति का स्पर्श किया तब वे निर्विष हो गये। विष्णुकुमार मुनि के विक्रिया ऋद्धि तपश्चरण के बल से ही प्रकट हुयी थी। उस ऋद्धि के प्रभाव से उन्होंने सात सौ मुनियों की रक्षा की थी। श्रावकों के अनशन आदि तप यद्यपि गज स्नानवत् माने गये हैं तो भी परम्परा से मोक्ष को प्राप्त कराने वाले हैं।

जम्बूद्वीप के इसी भरत क्षेत्र में कुरुजांगल देश है, इसमें हस्तिनापुर नाम का सुन्दर नगर है। किसी समय यहाँ पर वीतशोक राजा राज्य करते थे। इनकी रानी का नाम विद्युत्प्रभा था। इन दोनों के एक अशोक नाम का पुत्र था।

इसी समय अंग देश की चम्पा नगरी में मघवा नाम के राजा राज्य कर रहे थे। इनकी श्रीमती नाम की रानी थी। श्रीमती के आठ पुत्र और रोहिणी नाम की एक कन्या थी। यौवन को प्राप्त हुई रोहिणी ने एक समय आष्टान्हिक पर्व में उपवास करके, मंदिर में पूजा करके सभाभवन में बैठे हुए माता-पिता को शेषा दी। पिता ने पुत्री को युवती देखकर कुछ क्षण मन्त्रशाला में मंत्रियों से मंत्रणा की पुनः स्वयंवर की व्यवस्था की। स्वयंवर में रोहिणी ने हस्तिनापुर के राजकुमार अशोक के गले में वरमाला डाल दी।

कालांतर में वीतशोक महाराज ने दीक्षा ले ली और अशोक महाराज बहुत न्यायनीति से राज्य का संचालन कर रहे थे। रोहिणी महादेवी के आठ पुत्र और चार पुत्रियाँ थीं। किसी समय महाराज अशोक महादेवी रोहिणी के साथ महल की छत पर बैठे हुए विनोद गोष्ठी कर रहे थे। पास में वसंततिलका धाय बैठी हुई थी। जिसकी गोद में रोहिणी का छोटा बालक लोकपाल खेल

रहा था। इसी समय रोहिणी ने देखा कि कुछ स्त्रियाँ गली में अपने बालों को बिखेरे हुए एक बालक को लिए छाती, शिर, स्तन और भुजाओं को कूटती-पीटती हुई चिल्ला-चिल्ला कर रो रही हैं। तब रोहिणी ने अपनी वसंततिलका धात्री से कुतूहलवश पूछा – हे माता! नृत्यकला में विशारद लोग सिग्नटक, भानी, छत्र, रांस और दुंबिली इन पाँच प्रकारों के नाटकों का ही अभिनय करते हैं। भरत महाराज द्वारा प्रणीत इन पाँच प्रकार के नाटकों के सिवाय ये स्त्रियाँ सादिकुट्टन रूप इस कौन से नृत्य का अभिनय कर रही हैं ? इस नाटक में सात स्वर, भाषा और मूर्च्छनाओं का भी पता नहीं चल रहा है। तुम इस नाटक का नाम तो मुझे बताओ।

रोहिणी के इस भोलेपन के प्रश्न को सुनकर धाय बोली – पुत्री! कुछ दुःखिया स्त्रियाँ महान् शोक और दुःख मना रही हैं।

रोहिणी ने जब धात्री के मुख से "शोक" और "दुःख" ये दो शब्द सुने तब उसने पूछा – अम्ब! यह बताओ कि यह "शोक" और "दुःख" क्या वस्तु है ?

तब धात्री ने रुष्ट होकर जबाव दिया – सुन्दरी! क्या तुम्हें उन्माद हो गया है ? पाण्डित्य और ऐश्वर्य क्या ऐसा ही होता है? क्या रूप से पैदा हुआ गर्व यही है? जो तुम "शोक" और "दुःख" को नहीं जानती हो और रुदन को नाटक-नाटक बक रही हो। क्या तुमने इसी क्षण जन्म लिया है?

क्रोधपूर्ण बात सुनकर रोहिणी बोली – भद्रे! आप मेरे ऊपर क्रोध मत कीजिए। मैं गन्धर्व विद्या, गणित विद्या, चित्र, अक्षर, स्वर और चौंसठ विज्ञानों तथा बहत्तर कलाओं को ही जानती हूँ। मैंने आज तक इस प्रकार का कला गुण न देखा है और न मुझसे किसी ने कहा है। यह आज भी मेरे लिए अदृष्ट और अश्रुतपूर्व है इसीलिए मैंने आपसे पूछा है। इसमें अहंकार और पांडित्य की कोई बात नहीं है।

पुनः धात्री बोली – वत्से! न यह नाटक का प्रयोग है और न किसी संगीत भाषा का स्वर है किन्तु किसी इष्ट बन्धु की मृत्यु से रोने वालों का जो दुःख है, वही शोक कहलाता है।

धात्री की बात सुनकर रोहिणी पुनः बोली – भद्रे! यह ठीक है परन्तु मैं रोने का भी अर्थ नहीं जानती सो उसे भी बताइये।

रोहिणी के इस प्रश्न के पूरी होते ही राजा अशोक बोला – प्रिये! शोक से जो रुदन किया जाता है उसका अर्थ मैं बतलाता हूँ। इतना कहकर राजा ने लोकपाल कुमार को रोहिणी की गोद से लेकर देखते-देखते ही राजभवन के शिखर से नीचे फेंक दिया।

लोकपाल कुमार अशोक वृक्ष की चोटी पर गिरा, उसी समय नगर देवताओं ने आकर दिव्य सिंहासन पर उस बालक को बिठाया और क्षीरसागर के जल से भरे हुए एक सौ आठ कलशों से उसका अभिषेक किया और उसे आभूषणों से भूषित कर दिया। अशोक महाराज और रोहिणी ने जैसे ही नीचे नजर डाली तो बहुत ही विस्मित हुए। उस समय सभी लोगों ने इसे रोहिणी के पूर्वकृत पुण्य का ही फल समझा।

हस्तिनापुर के बाहर अशोक वन में अतिभूतितिलक, महाभूतितिलक, विभूतितिलक और अंबरतिलक नामक चार जिनमंदिर क्रमशः चारों दिशाओं में थे। एक रूपकुंभ और स्वर्णकुंभ नाम के दो चारण मुनि विहार करते हुए हस्तिनापुर में आकर पूर्व दिशा के जिनमंदिर में ठहर गये। वनपाल द्वारा मुनि आगमन का समाचार ज्ञात होने पर परिजन और पुरजन सहित अशोक महाराज मुनिराज की वंदना के लिए वहाँ पहुँचे। वंदना भक्ति के अनंतर राजा ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! मैंने और मेरी पत्नी रोहिणी ने पूर्व जन्म में कौन सा पुण्य विशेष किया है सो कृपा कर बतलाइये।

मुनिराज ने कहा – हे राजन्! इसी जम्बूद्वीप के अंतर्गत भरतक्षेत्र में सौराष्ट्र देश है। इसमें ऊर्जयंतगिरि के पश्चिम में एक गिरि नाम का नगर है। इस नगर के राजा का नाम भूपाल और रानी का नाम स्वरूपा था। राजा के एक गंगदत्त राजश्रेष्ठी था उसकी पत्नी का नाम सिन्धुमती था, इसे अपने रूप का बहुत ही घमण्ड था। किसी समय राजा के साथ वनक्रीड़ा के लिए जाते हुए गंगदत्त ने नगर में आहारार्थ प्रवेश करते हुए मासोपवासी समाधिगुप्त मुनिराज को देखा और सिन्धुमती से बोला – प्रिये! अपने घर की तरफ जाते हुए मुनिराज को आहार देकर तुम पीछे से आ जाना। सिन्धुमती पति की आज्ञा से लौट आई किन्तु मुनिराज के प्रति तीव्र क्रोध भावना हो जाने से उसने कड़वी तूमड़ी का आहार मुनिराज को दे दिया। मुनिराज ने हमेशा के लिए प्रत्याख्यान

ग्रहण कर सल्लेखनापूर्वक शरीर का त्याग कर स्वर्ग पद को प्राप्त कर लिया।

जब राजा वन से वापस लौट रहे थे, कि विमान में स्थित कर मुनि को ले जाते हुए देखकर मृत्यु का कारण पूछा। तब किसी व्यक्ति ने सारी घटना राजा को सुना दी। उस समय राजा ने सिन्धुमती का मस्तक मुण्डवाकर उस पर पाँच बेल बंधवाये, गधे पर बिठाकर उसके अनर्थ की सूचना नगर में दिलाते हुए उसे बाहर निकाल दिया। उसके बाद उसे उदुम्बर कुष्ठ हो गया और भयंकर वेदना से सातवें दिन ही मरकर बाईस सागर पर्यन्त आयु धारण कर छठे नरक में उत्पन्न हुई। यह पापिनी क्रम से सातों ही नरकों में भ्रमण करते हुए कदाचित तिर्यंचगति में आकर दो बार कुत्ती हुई, सूकरी, शृंगाली, चुहिया, गोंच, हथिनी, गधी और गोणिका हुई। अनंतर इसी हस्तिनापुर के राजश्रेष्ठी धनमित्र की पत्नी धनमित्रा से दुर्गन्धा कन्या उत्पन्न हुई। कुष्ठ से व्याप्त और मरे हुये कुत्ते की दुर्गन्ध के समान उसके शरीर से भयंकर दुर्गन्धि आ रही थी जिससे कि उसके पास किसी का भी बैठना कठिन था।

उसी शहर के वसुमित्र सेठ का एक श्रीषेण पुत्र था जो सप्त व्यसनी था। एक दिन चोरी कर्म से कोतवाल के द्वारा पकड़ा जाकर शहर के बाहर निकाला जा रहा था। उस समय धनमित्र ने कहा कि – श्रीषेण! यदि तुम मेरी कन्या के साथ विवाह करना मंजूर करो तो मैं तुम्हें इस बंधन से मुक्त करा सकता हूँ। उसके मंजूर करने पर सेठ ने उसे बंधन मुक्त कराकर उसके साथ अपनी दुर्गंधा कन्या का विवाह कर दिया किन्तु विवाह के बाद जैसे-तैसे एक रात दुर्गन्धा के पास बिताकर मारे दुर्गन्ध के घबराकर वह श्रीषेण अन्यत्र भाग गया। बेचारी दुर्गन्धा पुनः पिता के घर पर ही रहते हुए अपनी निन्दा करते हुए दिन व्यतीत कर रही थी। एक दिन उसने सुव्रता आर्यिका को अपने पितृगृह में आहार दिया। अनन्तर पिहितास्रव नामक चारणमुनि अमितास्रव मुनिराज के साथ वन में आये। वहाँ पर सभी श्रावकों ने गुरु वंदना करके उपदेश सुना। पूतिगंधा ने भी गुरु का उपदेश सुनकर कुछ क्षण बाद प्रश्न किया – हे भगवन्! मैंने पूर्व जन्म में कौन सा पाप किया है जिससे मेरा शरीर महादुर्गन्धियुक्त है ?

मुनिराज ने कहा – पुत्री! सुनो, तुमने सिन्धुमती सेठानी की अवस्था में मुनिराज को कड़वी तूमड़ी का आहार दिया था। उसके फलस्वरूप बहुत काल

तक नरक और तिर्यंचों के दुःख भोगे हैं और अभी भी पाप के शेष रहने से यह स्थिति हुई है। सारी घटना सुनकर पूतिगंधा ने कहा – हे गुरुदेव! अब मुझे कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे पापों का क्षय हो।

मुनिराज ने कहा – पुत्री! अब तुम सभी पापों से मुक्त होने के लिए रोहिणी व्रत करो, जिस दिन चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र में हो उस दिन चतुराहार त्याग कर उपवास करना चाहिए और वासुपूज्य जिनेन्द्रदेव की पूजा करके उनका जाप करना चाहिए। यह रोहिणी नक्षत्र सत्ताईस दिन में आता है। इस तरह सत्ताइसवें दिन उपवास करते हुए पाँच वर्ष और नव दिन में सड़सठ उपवास हो जाते हैं। अनंतर उद्यापन में वासुपूज्य भगवान् की महापूजा कराके रोहिणी व्रत संबंधी पुस्तक लिखाकर (छपाकर) और भी अन्य ग्रंथों का भी भव्य जीवों में वितरण करना चाहिये। ध्वजा, कलश, घण्टा, घण्टिका, दर्पण, स्वस्तिक आदि से मंदिर को भूषित करके महापूजा के अनंतर चतुर्विध संघ को आहार आदि चार प्रकार का दान और आर्यिकाओं के लिए वस्त्र का दान देना चाहिये।

इस तरह गुरुमुख से सुनकर विधिवत् व्रत ग्रहण कर रोहिणी ने उसका पालन किया। श्रावक व्रत पालन करते हुए अन्त में समाधिपूर्वक मरण करके वह अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग में महादेवी हो गई। वहाँ से च्युत होकर यह तुम्हारी वल्लभा रोहिणी हुई है। राजन्! यह रोहिणी व्रत का ही माहात्म्य है जो कि यह ''शोक'' और ''दुःख'' को नहीं समझ पाई है।

अनंतर मुनिराज ने अशोक से कहा – अब मैं तुम्हारे पूर्व जन्म सुनाता हूँ सो एकाग्रचित्त होकर सुनो।

कलिंग देश के निकट विंध्याचल पर्वत पर अशोक वन में स्तंबकारी और श्वेतकारी नाम के दो मदोन्मत्त हाथी थे। किसी दिन एक नदी में जल के लिये घुसे और आपस में लड़कर मर गये। वे बिलाव और चूहा हुए, पुनः साँप-नेवला तथा बाज और बगुला हुए, पुनः दोनों ही कबूतर हुए। अनंतर कनकपुर के राजा सोमप्रभ के पुरोहित सोमभूमि की पत्नी सोमिला से सोमशर्मा और सोमदत्त नाम के पुत्र हो गये।

राजा सोमप्रभ ने सोमभूमि के मरने के बाद पुरोहित पद सोमदत्त नामक उनके छोटे पुत्र को दे दिया। किसी समय सोमदत्त को यह मालूम हुआ कि

मेरा बड़ा भाई मेरी पत्नी के साथ दुराचार करता है तब उसने विरक्त होकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। इधर राजा ने पुरोहित पद सोमशर्मा को दे दिया।

एक बार सोमप्रभ राजा ने हाथी के लिए शकट देश के अधिपति वसुपाल के साथ युद्ध करने के लिए प्रस्थान कर दिया। उस समय सोमदत्त मुनि के दर्शन होने से सोमशर्मा ने कहा – महाराज! आपको अपशकुन हो गया है अतः इन मुनि को मारकर इनके खून को दशों दिशाओं में क्षेपण कर शांति कर्म करना चाहिए। यह सुनकर राजा ने अपने कान दोनों हाथों से ढक लिये। अब विश्वदेव नामक निमित्तज्ञानी ने आकर बतलाया – राजन्! आपको आज बहुत ही उत्तम शकुन हुआ है, देखिये! ''यति, घोड़ा, हाथी, बैल, कुम्भ ये चीजें प्रस्थान और प्रवेश में सिद्धिसूचक मानी गई हैं।''

अन्यत्र भी कहा है –

आरुरोह रथं पार्थ गांडीवं चापि धारय।
निर्जितां मेदिनीं मन्ये निर्ग्रन्थो यतिरग्रतः।।

महाभारत में लिखा है – कि कृष्ण अर्जुन से कहते हैं-हे अर्जुन! तुम रथ पर चढ़ जावो और धनुष धारण कर लो। सामने निर्ग्रन्थ मुनिराज के दर्शन हो रहे हैं, इसलिये मैं समझता हूँ कि अब हमने पृथ्वी जीत ली। हमारी विजय निश्चित है। ज्योतिष शास्त्र में भी एक सुभाषित है –

पद्मिन्यो राजहंसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधनाः।
यद्देशमभिगच्छन्ति तद्देशे शुभमादिशेत्।।

पद्मिनी स्त्रियाँ, राजहंस और निर्ग्रंथ तपस्वी जिस प्रदेश में रहते हैं उस प्रदेश में सर्वत्र मंगल रहता है। अन्यत्र धर्मग्रंथों में भी ''साधु'' के दर्शन से पापों का नाश हो जाता है ऐसा कहा गया है।

राजन्! आप देखिये प्रातः ही राजा वसुपाल का त्रिलोकसुन्दर हाथी लेकर आपको भेंट करूँगा। विश्वदेव के वचनों से राजा का मन शांत हो गया। पुनः प्रातःकाल स्वयं वसुपाल राजा ने आकर वह हाथी सहर्ष भेंट कर दिया।

इधर सोमशर्मा ने पूर्व वैर के कारण रात्रि में सोमदत्त मुनि की हत्या कर दी। जब राजा को इस बात का पता चला तब उसे पाँच प्रकार के दण्डों से

दण्डित किया। मुनि हत्या के पाप से सोमशर्मा को कुष्ट रोग हो गया और वह मरकर सातवें नरक पहुँच गया।

वहाँ से निकलकर महामत्स्य हुआ, छठे नरक गया, सिंह हुआ, पाँचवें नरक गया, सर्प हुआ, चतुर्थ नरक गया, पक्षी हुआ, द्वितीय नरक गया, बगुला हुआ पुनः प्रथम नरक गया। वहाँ से निकलकर सिंहपुर के राजा सिंहसेन की रानी से पूतिगंध नाम का महादुर्गन्ध शरीरधारी पुत्र हुआ।

किसी समय विमलमदन जिनराज को केवलज्ञान होने पर देवों के आगमन को देखकर पूतिगंध मूर्छित हो गया। पुनः होश में आने पर उसे जातिस्मरण हो गया। वह पिता के साथ केवली भगवान् का दर्शन करके मनुष्यों की सभा में बैठ गया। राजा ने पूतिगंध के पूर्व भव पूछे और पूर्वोक्त प्रकार विशेष स्पष्टतया जिनेन्द्र की वाणी से अपने भवांतरों को सुनकर पूतिगंध ने कहा–प्रभो! अब मुझे दुःखों से छूटने के लिए कोई व्रतादि बतलाइये। तब भगवान ने उसे रोहिणी व्रत का उपदेश दिया। इस व्रत में तीन[1] साल में चालीस उपवास होते हैं और पाँच वर्ष नव दिन में सड़सठ उपवास होते हैं अनंतर विधिवत् उद्यापन करना चाहिए।

पूतिगंध राजकुमार इस व्रत और अणुव्रत आदि के प्रभाव से उसी भव में सुगंध शरीर वाला हो गया। अनंतर एक महीने में ही सल्लेखना विधि से मरण करके प्राणत नामक स्वर्ग में महर्द्धिक देव हो गया। वहाँ से च्युत होकर पूर्वविदेह में पुण्डरीकिणी नगरी के विमलकीर्ति राजा की श्रीमती रानी से अर्ककीर्ति नाम का पुत्र हो गया। आगे जाकर अर्ककीर्ति ने महावैभव स्वरूप चक्रवर्ती के पद को प्राप्त किया। अमित सुखों का अनुभव करके विरक्त हो जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। अंत में मरण कर सोलहवें स्वर्ग में देव पद को प्राप्त किया। उस समय पूतिगंधा का जीव जो कि रोहिणी व्रत के प्रभाव से स्वर्ग में देवी हुई थी, वह इस देव की प्रिय देवी हुई। वहाँ से च्युत होकर आप अशोक राजा हुए हैं।

इस प्रकार मुनिराज के मुख से भवांतरों को सुनकर राजा-रानी अति

---

1. व्रत तिथि निर्णय में 3 वर्ष, 5 वर्ष या सात वर्ष भी इस व्रत के करने का विधान है।

प्रसन्न हुए और सभी पुत्र-पुत्रियों के भव पूछकर हर्षितमना अपने शहर वापस आ गये। एक समय श्वेत केश को देखकर विरक्त होकर राजा अशोक ने वासुपूज्य भगवान के समवसरण में जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और सात ऋद्धि से सम्पन्न हुए भगवान के गणधर हो गये। अनंतर मोक्ष को पधार गये। रोहिणी भी सुमति आर्यिका के समीप आर्यिका दीक्षा लेकर स्त्री पर्याय को छेदकर सोलहवें स्वर्ग में देव हो गई।

इस प्रकार से रोहिणी व्रत का माहात्म्य अचिंत्य है। इस व्रत में हर उपवास के दिन भगवान् वासुपूज्य का अभिषेक करके पूजन करना चाहिए पुनः "ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्यजिनेन्द्राय नमः" यह जाप करना चाहिए।

साधुसमाधि भावना

मुनिगणात्तपः संधारणं भाण्डागाराग्निप्रशमनवत्।।8।।

जिस प्रकार से भाण्डागार में अग्नि लग जाने पर उसको बुझाया ही जाता है चूँकि वह भाण्डागार बहुत ही उपकारी है। उसी प्रकार से अनेक व्रत शील से संपन्न मुनिगणों के तप में किसी निमित्त से विघ्न के उपस्थित हो जाने पर उसे दूरकर उन्हें उसी तप में संधारण करना साधु समाधि है।

एक समय राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के समवसरण में जा रहे थे। मार्ग में उन्हें वृक्ष के नीचे ध्यान मुद्रा में एक मुनिराज दिखे। श्रेणिक ने उनकी वंदना की, परन्तु उनका मुख उस समय कुछ विकृत हो रहा था सो महाराजा श्रेणिक ने भगवान् के निकट पहुँच कर वंदना आदि करके श्री गौतम स्वामी से उन मुनि के विषय में जानकरी चाही। गौतम स्वामी बोले – श्रेणिक! वे मुनि चंपानगरी के राजा श्वेतवाहन हैं। इन्होंने विरक्त हो अपने पुत्र विमलवाहन को राज्य देकर दीक्षा ले ली। बहुत दिन मुनियों के साथ विहार कर ये परम तपस्वी अखंड संयमी होकर यहाँ आये हैं। ये दशधर्म में अतिशय रुचि रखते हैं अतः इनका 'धर्मरुचि' यह नाम प्रसिद्ध हो गया है। एक महिने के उपवास के बाद आज ये नगर में भिक्षा के लिये गये थे। इन्हें देखकर इनके निकट ही तीन मनुष्य ऐसी चर्चा करने लगे। एक ने कहा – अहो! इनके सर्व लक्षण तो सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार साम्राज्यपद के हैं। पुनः ये भिक्षा के लिये क्यों भटक रहे हैं ? मालूम होता है निमित्तशास्त्र गलत है। दूसरे ने कहा – नहीं-नहीं, ये साम्राज्य को त्याग कर ऋषि हुये हैं, इन्होंने अपने लघु वयस्क पुत्र को राज्य दे दिया है, अतः निमित्त शास्त्र गलत नहीं है। इसी बीच तीसरा बोला उठा – 'अरे इसका तप पाप का कारण है अतः इससे क्या लाभ ? यह बड़ा दुरात्मा है। देखा ना! इसने निर्दय होकर अनभिज्ञ बालक को राज्यभार दे दिया और स्वार्थ सिद्धि के लिए यहाँ तप करने आया है। उधर मंत्री आदि ने उस बालक को सांकल से बाँध रखा है और राज्य का विभाग कर इच्छानुसार उपभोग कर रहे हैं।'

इस बात को सुनते ही मुनि का हृदय स्नेह और मान से भर गया अतः

वे आहार न लेकर वापस आकर वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठ गये। बाह्य कारणों के मिलने से उनके अंतःकरण में तीव्र अनुभाग वाले क्रोध कषाय का उदय हो रहा है। उन मंत्रियों के निग्रह के प्रति वे संरक्षानंद नामक रौद्र ध्यान में प्रविष्ट हो गये हैं। 'यदि आगे अंतर्मुहूर्त तक ऐसी ही स्थिति रही तो वे नरक आयु के बंध करने के योग्य हो जावेंगे।''[1] इसलिए हे श्रेणिक? तुम शीघ्र ही जाकर उन्हें समझा दो। महाराजा श्रेणिक वहाँ पहुँचकर देखते हैं तो उनकी भृकुटी तन रही हैं। वे बोले – 'हे साधो! शीघ्र ही यह अशुभ ध्यान छोड़ो, क्रोध रूपी अग्नि को शांत करो, मोह के जाल को दूर करो, मोक्ष के लिये कारणभूत जो संयम तुमने ले रखा है उसको फिर से धारण करो, यह स्त्री-पुत्र आदि का संबंध अनिष्टकर है, संसार को बढ़ाने वाला है।' इत्यादि रूप से संबोधन के वाक्य सुनकर मुनिराज तत्क्षण ही शुभ ध्यान में आ गये पुनः परिणाम विशुद्धि करते हुए क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके शुक्लध्यान के बल से घातिया कर्मों को समाप्त कर दिया और उसी क्षण केवलज्ञानी हो गये। इंद्रादि देव स्वर्ग से उनके केवलज्ञान की पूजा करने के लिए आ गये सो राजा श्रेणिक ने भी उन सबके साथ 'धर्मरुचि' केवली की पूजा की। इसी का नाम है 'साधु समाधि'। आगम के अनुरूप वचनों से मुनियों के धर्म के विघ्न को दूर कर उन्हें तप, संयम और ध्यान आदि में लगा देना न कि उनके छिद्र देख-देख कर दुनिया में कहते फिरना।

दुःख या उपसर्ग के समय मुनियों की रक्षा करना बहुत बड़ा कर्तव्य है। समय-समय पर देवों ने भी धर्मप्रेम से धर्म के आयतन ऐसे साधुओं के उपसर्ग को दूर किया है। यथा –

मगध देश में शालिग्राम नाम का एक गाँव था। किसी समय वहाँ पर संघ सहित नंदिवर्धन मुनिराज आये और उद्यान में ठहर गये। संघ आगमन के समाचार को पाते ही श्रावकजन दर्शन और पूजन के लिए उमड़ पड़े। अग्निभूति और वायुभूति नाम के दो भाई थे, वे ब्राह्मण थे, जातिमद और ज्ञान के मद से उन्मत्त हो रहे थे। वे भी मुनियों से वाद-विवाद करने के लिये वहाँ पर आ गये।

---

1. अतः परं मुहूर्तं चेदमेव स्थितिं भजेत्। आयुषो नारकस्यापि प्रायोग्योऽसं भविष्यति।।23।। (उत्तरपुराण, पर्व 76)

उन्हें सभा में देखकर एक सात्यकि नामक मुनि ने कहा कि हे विप्रों! आवो और गुरुदेव से कुछ पूछो। तभी एक ब्राह्म ने कहा कि ये दोनों इन मुनियों को वाद में जीतने के लिये आये हैं पुनः दूर ही क्यों बैठे हैं ? यह सुनकर वे दानों भाई गर्व से उठे और मुनिराज के पास आ गये। बोले कि– तू जानता है, बोल? तब आचार्य नंदिवर्धन बोलते हैं कि–

आप दोनों कहाँ से आ रहे हैं ?

क्या तुझे यह भी ज्ञान नहीं कि हम दोनों शालिग्राम से आये हैं ?

आप इस ग्राम से आये हैं सो तो मैं जानता हूँ किन्तु मेरे कहने का यह अभिप्राय है कि इस अनादि संसार में घूमते हुये आप इस समय किस पर्याय से आये हैं ?

इसे क्या और भी कोई जानता है या मैं ही जानूँ ?

अच्छा विप्रों! सुनो मैं इस बात को बताता हूँ।

इस ग्राम की सीमा के पास वन में दो शृगाल साथ-साथ रहते थे। इसी गाँव में प्राभरक नामक एक किसान था। वह एक दिन अपने उपकरण खेत पर ही छोड़कर आ गया। उसी रात को खूब जोर से वर्षा शुरू हो गई जो कि सात दिन तक चलती रही। बेचारे भूख से पीड़ित हुये वे शृंगाल वर्षा के रुक जाने पर बाहर निकले और वर्षा से भीगे कीचड़ से सने हुये उन उपकरणों को खा लिया। खाते ही उनके उदर में भयंकर पीड़ा उठी, वर्षा और वायु से पीड़ित दोनों शृगाल अकामनिर्जरा कर मरे और यहीं ग्राम में सोमदेव ब्राह्मण के पुत्र हो गये। अनंतर वह प्राभरक किसान अपने उपकरण ढूँढता हुआ खेत में जा पहुँचा। वहाँ उसने मरे हुए दोनों शृगालों को देखा। उन्हें घर लाकर उनकी खाल की मशकें बनाई। वह किसान भी कुछ ही दिनों में मर गया जो कि अपने ही पुत्र का पुत्र हो गया। उस पुत्र को जातिस्मरण हो गया है कि जिससे वह गूँगा बनकर रहा है ''मैं अपने पूर्वभव के पुत्र-पुत्रवधु को पिता और माता के रूप में बोलूँ ?'' यदि तुम्हें इस पर विश्वास न हो तो वह किसान मेरी सभा में बैठा हुआ है उससे पूछ लो।

सब लोग उस प्राभरक किसान के पोते की तरफ देखने लगे कि वह भी इन वचनों को सुनकर मुनिराज के निकट आ गया। मुनिराज ने कहा– ''हे

वत्स! इस संसार की ऐसी विचित्र दशा है कि वहाँ पर माता भी मरकर पत्नी हो जाती है और पत्नी भी माता बन जाती है, इत्यादि। अतः तुम विषाद को छोड़कर मौन तोड़ो और बोले।''

मुनिराज के वचन सुनते ही वह हर्ष से रोमांचित हो उठा। उसने तत्क्षण ही भक्ति में विभोर होकर मुनि की तीन प्रदक्षिणायें दीं और मस्तक के बल उनके चरणों में गिर पड़ा। अनंतर आश्चर्यचकित हो जोर से बोल पड़ा–

'हे भगवन्! आप सर्वज्ञ हैं, यहाँ बैठे-बैठे ही आप लोक की समस्त स्थिति को देख रहे हैं। हे नाथ! मैं संसार समुद्र में डूब रहा हूँ, मुझे अपने हाथ का सहारा देकर गृहकूप से निकालिये। इत्यादि रूप से अनुनय-विनय करते हुए उसने अपने माता-पिता के रोते हुये भी मुनि के पास व्रतों को ग्रहण कर लिया। इस घटना से वहाँ के लोग बहुत ही प्रभावित हुये और पुनः बहुत से लोगों ने उसके घर जाकर शृगालों के खाल की दोनों मशकें देखीं जिससे सब ओर कलकल तथा आश्चर्य छा गया।

उस समय तमाम लोगों ने उन ब्राह्मणों की हँसी की कि ये पशुओं का माँस खाने वाले शृगाल ब्राह्मण हुये हैं जो कि ''सब कुछ ब्रह्म ही है'' ऐसा ब्रह्माद्वैतवाद ग्रहण कर और हिंसा में धर्म मानकर मूढ़ जनता को भ्रम में डाल रहे हैं। अब यहाँ परम अहिंसक मुनियों से वाद-विवाद करने के लिये उद्यत हुये हैं। इस प्रकार से साधुओं की स्तुति और अपनी निन्दा सुनकर वे ब्राह्मण अत्यंत लज्जित और दुःखी हुये।

अनंतर रात्रि में वे नंगी तलवार लेकर अपने अपमान का बदला चुकाने के लिए घर से बाहर उसी उद्यान की तरफ आचार्य नंदिवर्धन की खोज करते हुये निकले। आचार्यदेव सायं को अपने संघ को वहाँ छोड़कर आप एक निर्जन, भयंकर श्मशान भूमि में आकर ध्यानस्थ खड़े हो गये थे। वे ब्राह्मण उन्हें ढूँढते हुये उसी श्मशान भूमि में आ पहुँचे और उन्होंने आचार्य देव को प्रतिमायोग से निश्चल देखा। उन्हें देखते ही वे प्राणी क्रोध में भभक कर बोले–

अरे पापी, निर्लज्ज, नंगे, अब सभी भक्त आकर तेरी रक्षा करें। अरे मूढ़! देखता हूँ अब तू कहाँ जाएगा? हम लोग पृथ्वी के देवता, ब्राह्मण के अवतार, उनको तूने ये शृगाल थे ऐसा कैसे कहा? इत्यादि रूप से क्रोध से

बड़बड़ाते हुये उन दोनों ने एक साथ ही उन्हें मारने के लिये तलवार उठाई कि तत्क्षण ही यक्ष देव ने उन्हें वैसे के वैसे ही कीलित कर दिया। वे दोनों दुष्टात्मा ज्यों की त्यों खड़े रह गये। वहाँ शासनदेव ने साधु की रक्षा की भावना से उन दुष्टों को कीलित कर दिया।

प्रातःकाल सूर्योदय होते ही भक्तों की भीड़ उमड़ पड़ी। इस दृश्य को देखकर सभी लोग इन दुष्टों को धिक्कारते हुये महामुनि की पूजा-स्तुति करने लगे। चतुर्विध संघ भी अपने गुरुदेव के चरण सान्निध्य में आ गया। इन अग्निभूति-वायुभूति के माता-पिता आदि कुटुम्बीजन भी वहाँ आ पहुँचे। वह सोमदेव ब्राह्मण अपनी पत्नी अग्निला सहित उन मुनिराज को प्रसन्न करने लगा, उनके पैर दबाने लगा, बार-बार उन्हें प्रणाम करने लगा, मीठे वचन कहकर उनकी सेवा करने लगा। उन दोनों ने कहा कि हे देव! ये मेरे दुष्ट पुत्र जीवित रहें, हे नाथ! क्रोध छोड़िये, हम सब परिवार आपके आज्ञाकारी हैं। उत्तर में मुनिनाथ ने कहा कि–

'हे ब्राह्मण! मुनियों का क्या क्रोध है? जो तुम इस तरह कह रहे हो, हम तो सबके ऊपर दया सहित हैं। हमारे शत्रु-मित्र सब एक समान हैं।

अनंतर यक्ष प्रत्यक्ष में प्रकट होकर बोला–

'अरे! क्या यह कार्य इस गुरु महाराज का है? तू ऐसा सबके बीच में क्यों बक रहा है? जो पापी साधुओं के प्रति घृणा करते हैं वे शीघ्र ही अनर्थ को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार दर्पण के सामने मनुष्य अपना जैसा मुख करता है वैसा ही देखता है। उसी प्रकार साधु को देखकर सामने जाना, खड़े होना आदि क्रियाओं को करना आदि जैसा भाव करता है, वैसा ही फल पाता है।

जो मुनि की हँसी करता है वह उसके बदले रोना प्राप्त करता है। जो उनके प्रति कठोर शब्द कहता है वह बदले में रोना प्राप्त करता है, जो मुनि को मारता है वह उसके बदले मरण प्राप्त करता है, जो मुनि से विद्वेष करता है वह उसके बदले पाप प्राप्त करता है। इस प्रकार साधु के प्रति निंदनीय कार्य से उसके बदले वैसे ही फल प्राप्त हो जाते हैं।

हे विप्र! ये तेरे पुत्र अपने ही द्वरा संचित पाप कर्मों से मेरे द्वारा कीलित किये गये हैं, साधु महाराज के द्वारा नहीं। ये साधु की हिंसा में उद्यत हुये दुष्ट

मृत्यु को प्राप्त होंगे इसमें क्या हानि है ?[1]

यक्ष के ऐसे कठोर शब्द सुनकर ब्राह्मण गिड़गिड़ाने लगा और पुत्रों की रक्षा हेतु अपनी छाती पीट-पीट कर रोने लगा।

अनंतर मुनिराज ने कहा कि ये यक्ष! तुमने जिनशासन में वात्सल्य प्रगट किया है सो ठीक, अब इन दोनों के दोषों को क्षमा कर दो, चूँकि मेरे निमित्त से इनका वध उचित नहीं है। तत्पश्चात् ''जैसी आज्ञा आपकी हो, वैसा ही करता हूँ'' ऐसा कहकर यक्ष ने दोनों को छोड़ दिया। वे दोनों अग्निभूति, वायुभूति भक्तिपूर्वक गुरुदेव के पादमूल में पहुँचे, प्रदक्षिणा देकर उनके चरणों में बारंबार नमस्कार करके कृतकर्मों की क्षमायाचना करते हुये दीक्षा की याचना की। गुरुदेव ने भी उन्हें भद्र परिणामी हुआ देखकर तथा मुनिदीक्षा की चर्या उनके लिए कठिन समझकर उन्हें सम्यग्दर्शन सहित पाँच अणुव्रत दिये। वे दोनों भी गुरु की आज्ञानुसार गृहस्थधर्म का पालन करते हुये विवेकी श्रावक बन गये।

इस प्रकार से साधुसमाधि भावना को भाने वाले जीव तीर्थंकर प्रकृति का पुण्य संचय कर लेते हैं।

1. पद्मपुराण, पर्व 109।

वैयावृत्यकरण भावना

गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्यम्।।9।।

गुणवान साधुओं के ऊपर किसी प्रकार के दुःख आ जाने पर या व्याधि आदि से पीड़ित होने पर निर्दोष औषधि के द्वारा उसको दूर करना यह बहु उपकार को करने वाला वैयावृत्यकरण है।

श्री उमास्वामी आचार्य भी कहते हैं – 'आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ' इन दश प्रकार के मुनियों के क्लेश और संक्लेश को दूर करने के लिए साधु या श्रावक जो कुछ भी व्यापार करता है उसको वैयावृत्ति कहते हैं।

जो शिक्षा-दीक्षा देते हैं, संघ के नायक हैं, वे आचार्य हैं। संघ में पढ़ाने वाले उपाध्याय हैं। महोपवासी साधु होते हैं। रोगादि से युक्त साधु ग्लान हैं। स्थविर की संतति गण हैं। दीक्षाचार्य की परम्परा कुल है। चातुर्वर्ण श्रमण समूह अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका ये संघ है। चिरकाल से दीक्षित को साधु संज्ञा है और लोक में अतिशय मान्य साधु मनोज्ञ कहलाते हैं। इनके क्लेश, कष्ट, उपद्रव, संकट, रोग आदि के प्रसंग में औषधि परिचर्या, सेवा-शुश्रूषा आदि करना वह सब वैयावृत्य कहलाता है।

आचार्यों ने तप करने के लिये शक्तितः शब्द का प्रयोग किया है किन्तु वैयावृत्य तप को तपश्चरण का प्राण ही कह दिया है। देखिये –

''सहधर्मियों पर आपत्ति आने पर जो प्रमाद कर देते हैं वे मनुष्य सर्व सम्पत्तियों को छोड़ देते हैं क्योंकि यह वैयावृत्य तप का हृदय प्राण है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।''[1] वैयावृत्य करने वाले साधु या श्रावक साधुओं की समाधि में सहयोगी बनते हैं। निर्विचिकित्सा गुण पालन करते हैं। सहधर्मियों में वात्सल्य करते हैं, और भी अनेक गुणों के स्वामी बन जाते हैं।

श्रीकृष्ण ने एक मुनिराज के शरीर में कुछ रोग देखा तब गुरू से प्रश्न किया – भगवन्! इस रोग के लिए क्या औषधि है ? मुनि ने कुछ नाम बता

---

1. सधर्मापदि यः शेते सशेते सर्वसंपदि। वैयावृत्यं हि तपसो ब्रुवते जिनाः।।80।। अनगार धर्मामृत।

दिया। वैद्य को बुलाकर श्रीकृष्ण ने उस औषधि को समझा, पुनः रसोईघर में उस औषधिमिश्रित लड्डू बनवा दिये। मुनि को आहार के समय वे लड्डू दिये गये जिससे उनका रोग शांत हो गया। उसके पुण्य के प्रसाद से श्रीकृष्ण भविष्य में तीर्थंकर होवेंगे।

वास्तव में यह शरीर ही धर्म का साधन है। यदि इसमें वात, पित्त, कफ आदि दोष प्रकुपित हो जाते हैं तब धर्म साधन में भी बाधा उपस्थित हो जाती है। ऐसे प्रसंग पर श्रीकुंदकुंद देव ने भी प्रवचनसार में मुनियों को साधुओं की वैयावृत्य के लिये असंयमियों से, श्रावकों से बोलने की छूट दी है। इससे भी वैयावृत्य महत्व विशेष रूप से दिख जाता है। समयोचित सेवा करना ही वैयावृत्य है और गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति करना भी वैयावृत्य है।

एक समय श्री धर्मघोष मुनिराज चंपानगरी में आहार करके तपोवन की ओर आ रहे थे। चलने के अधिक परिश्रम से वे अत्यधिक थक गये तब एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। उस समय वे प्यास की बाधा से व्याकुल हो रहे थे। गंगादेवी उन्हें प्यासा देखकर कलश में पवित्र जल लेकर वहाँ आई और बोली – हे भगवन्! आप इस ठंडे जल को पीकर प्यास शांत कीजिये। मुनि ने कहा – देवी! तूने अपना कर्तव्य किया सो ठीक, परन्तु हमारे लिये देवों द्वारा दिया गया आहार पानी काम नहीं आता। देवी सुनकर चकित रह गई। उसी समय वह विदेह क्षेत्र में गई और वहाँ भगवान् के समवसरण में प्रश्न किया कि हे भगवन्! एक प्यासे मुनि को मैं जल पिलाने गई किन्तु उन्होंने नहीं पिया सो क्या कारण है? दिव्यध्वनि से उसे उत्तर मिला कि मुनि लोग देवों के हाथ से आहार नहीं लेते हैं। देवी उत्तर पाकर निरूपाय हुई। फिर भी उसने सोचा हमें कुछ तो वैयावृत्य करके इनकी प्यास को शांत करना चाहिये। वह वहाँ से आकर मुनि के चारों तरफ सुगंधित ठण्डे जल की वर्षा शुरू कर देती है। जिससे ठण्डी-ठण्डी हवा लगकर मुनि को एकदम शांति हो जाती है। इसके बाद वे मुनिराज ध्यान में आरूढ़ होकर तत्क्षण ही केवली हो जाते हैं। स्वर्ग से देव उनकी पूजा करने आ जाते हैं, वहाँ पर गंधकुटी की रचना हो जाती है। यह थी देवी की वैयावृत्ति!

श्री समंतभद्र स्वामी ने तो अतिथिसंविभाग व्रत के स्थान पर वैयावृत्य

नाम का ही अंतिम शिक्षाव्रत लिया है और उसमें मुनियों के आहारदान पर अत्यधिक जोर दिया है। बल्कि यहाँ तक कहा है कि ''गृहस्थी में पंचसूना आदि से जो हमेशा पाप संचित होते रहते हैं उनके पालन का यदि कोई उपाय है तो एक गृहवास से रहित मुनियों को आहार देना, जैसे कि रुधिर से रंगे हुये वस्त्र को जल धोकर साफ कर देता है वैसे ही अतिथियों को दिया गया आहार गृहस्थ के पापों को धोकर साफ कर देता है।''

यह तो साधुओं के लिये वैयावृत्ति का विधान किया किन्तु श्रावक-श्राविकाएं गृहस्थों की भी वैयावृत्ति कर सकते हैं।

गृहस्थों में भी पूज्य पुरुषों की, गुणीजनों की, घर के बड़े जनों की और तो क्या छोटे हों या बड़े, स्त्री हो या पुरुष सभी की समयोचित वैयावृत्ति करनी चाहिये।

बात यह है कि ''धर्म धर्मात्माओं के बिना नहीं रहता है।'' इसलिये रत्नत्रय रूप धर्म को धारण करने वाले साधुओं की वैयावृत्ति करना एक तप है। शेष लोगों की वैयावृत्ति भी धर्म है, कर्तव्य है, सेवा है। इससे भी परस्पर में स्नेह बना रहता है, इसलिये गृहस्थाश्रम में रहते हुये यथोचित सभी की सेवा, वैयावृत्ति करनी ही चाहिये। देखो, जीवंधर कुमार ने कुत्ते को भी महामंत्र सुनाकर उसे सांत्वना दी, यह भी तो एक वैयावृत्ति ही है। सच है, इस वैय्यावृत्ति तप का महत्त्व अचिन्त्य ही है।[1]

वैयावृत्य के एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान, सनाथपना, ग्लानि का अभाव तथा सहधर्मी वात्सल्य आदि गुण सिद्ध हो जाते हैं।

मगधदेश के शालिग्राम नगर में दरिद्र ब्राह्मणी के एक पुत्र का जन्म हुआ। गर्भ में आते ही उसका पिता मर गया और जन्मते ही माता मर गई। मौसी ने उसका पालन किया, आठ वर्ष की वय में मौसी भी मर गई। पुनः कुछ दिन मामा के घर पला। इसके शरीर से दुर्गंध आती थी और कुरूप था अतः

---

1. शक्तितस्तपः।

वैयावृत्यं जिनैरुक्तं कर्तव्यं सर्वशक्तितः। अनगार धर्मामृत, मूल, पृ. 52।

सधर्मापदि यषा शेते स शेते सर्वसंपदि। वैयावृत्यं हि तपसो दयं ब्रुवते जिनाः।। अनगार धर्मामृत, अ. 7।

उसे घर से भी निकाल दिया गया। अंत में शोक से व्याकुल हो वह एक पर्वत पर चढ़कर गिरकर मरना चाहता था कि दो मुनियों ने उसे संबोधन कर रोका और गुरु के पास लाकर दीक्षा दिला दी। ये ब्राह्मण पुत्र नंदिषेण गुरू के प्रसाद से घोर तपश्चरण करते हुये अनेकों ऋद्धियों से समन्वित हो गये। वैयावृत्य के लिये वे मुनि अपनी ऋद्धियों का उपयोग करते रहते थे। एक बार इंद्र ने सभा में नंदिषेण के वैयावृत्य की बहुत प्रशंसा की। ऐसा सुनकर एक देव रुग्ण मुनि का वेष लेकर आया, नंदिषेण मुनि ने उसकी अपने हाथों से सेवा की, उससे पूछा–मैं तुम्हें औषधि देता हूँ बोलो, तुम्हारी किस भोजन में रुचि है। उसने कहा मुझे पूर्व देश का चावल, पाँचाल देश की दाल, पश्चिम देश की गायों का घी और कलिंग देश की गायों का दूध आदि पदार्थ चाहिये। नंदिषेण मुनि ने अपनी ऋद्धि के बल से सर्व वस्तुओं को मँगाकर उसे आहार में दिला दी। कृत्रिम मुनि ने आहार करके पुनः रात्रि में खूब दस्त कर दिया। मुनि ने अपने हाथों से उसे धोया और ग्लानि नहीं किया तब वह मुनि अपने देव रूप में आकर नंदिषेण मुनि की खूब स्तुति करने लगा। वह नंदिषेण मुनि ही आगे श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव हुये हैं। आचार्य कहते हैं कि–

प्रासुकद्रव्ययोगेन वैयावृत्योद्यतस्य हि।
संयतस्यापि नो बंधो निर्जरैव तु जायते।।142।।

गृहस्थ की तो बात ही क्या? प्रासुक द्रव्य के द्वारा वैयावृत्य करने में तत्पर हुये मुनि को भी उससे बंध नहीं होता है किन्तु निर्जरा ही होती है। श्री समंतभद्र स्वामी भी कहते हैं–

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोन्योऽपि संयमिनाम् ।।112।।

गुणानुराग से संयमी पुरुषों की आपत्तियों को दूर करना, उनके चरणों को दबाना तथा इसी प्रकार और भी जो उनकी सेवा-टहल करना सो सब वैयावृत्य है। यह भावना तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारण है।

अर्हंतभक्ति भावना

अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः।।10।।

अर्हंत, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन इनमें भाव विशुद्धिपूर्वक अनुराग का होना भक्ति है। यहाँ पर अर्हंत भक्ति से प्रयोजन है अतः चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य और चार अनंत चतुष्टय से सहित तथा अठारह दोषों से रहित वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान की भक्ति करना अर्हंत भक्ति है।

मेढ़क भक्ति से फूल की पाँखुड़ी लेकर भगवान के दर्शन को चला, राजा श्रेणिक के हाथी के नीचे दबकर, मरकर तत्क्षण ही देव हो गया। मनोवति ने दर्शन प्रतिज्ञा ली थी तब देवों ने वन में पृथ्वी के नीचे मंदिर बनाकर उसकी प्रतिज्ञा पूरी की। वादिराज मुनिराज ने एकीभावस्तोत्र की रचना के बल से शरीर का कुष्ठ नष्ट कर दिया, मानतुंग के 48 ताले टूट गये। पूज्यपाद स्वामी ने शांतिभक्ति के प्रसाद से नेत्र ज्योति को प्राप्त कर लिया था, ऐसे अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं। जिनबिम्ब की भक्ति भी अर्हंत भक्ति है क्योंकि जिनबिम्ब दर्शन से भी सम्यक्त्व प्रगट हो सकता है। धवला व राजवार्तिक आदि ग्रंथों में 'जिन-बिम्ब दर्शन' और 'जिन महिमादर्शन' को सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण बतलाया है।[1]

पद्मपुराण में कहा है कि–'जो मनुष्य जिनमंदिर बनवाता है उसके भोगोत्सव का वर्णन कौन कर सकता है? जो मनुष्य जिनप्रतिमा का निर्माण कराता है वह शीघ्र ही परमपद को प्राप्त कर लेता है। तीनों कालों और तीनों लोकों में व्रत, ज्ञान, तप और दान के द्वारा मनुष्य के जो पुण्य का संचय होता है वह भावपूर्वक एक प्रतिमा के बनवाने की बराबरी नहीं सकता।[2] इस ग्रंथ में बतलाया है कि 'जो जिनप्रतिमा के दर्शन की भावना करता है वह बेला के उपवास के फल को, उद्यम करने से तेला के उपवास को, ऐसे क्रम से मंदिर के द्वार में प्रवेश करने से वर्षोपवास के फल को एवं क्रम से जिन स्तुति से अनंत उपवास के फल को प्राप्त होता है।' इस प्रकार से अर्हंत देव की भक्ति में सतत तत्पर रहना तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण है।

---

1. धवला पु. 6, तत्त्वार्थवार्तिक अ. 2। 2. हरिवंशपुराण, पर्व 18।

राजगृह नगर में एक नागदत्त सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम भवदत्ता था। जब सेठ मरणासन्न स्थिति में था तब उसका अपनी पत्नी के प्रति ममत्व भाव बहुत ही था, वह अपनी पत्नी में मोह करता हुआ आर्तध्यान में मर गया और घर की बावड़ी में ही मेढ़क हो गया। जब भवदत्ता बावड़ी पर जल भरने आती तब यह मेढक उछल कर उसके ऊपर आ जाता जिससे वह घबरा कर भागती। ऐसे कई दिन निकल गये तब उसने एक अवधिज्ञानी मुनि के पास जाकर उन्हें नमस्कार कर इस मेढक को अपने ऊपर उछल-उछल कर आने का कारण पूछा, मुनिराज ने कहा–

"भद्रे! यह तुम्हारे पति नागदत्त का जीव ही मेढक हो गया है।" सेठानी को बहुत ही आश्चर्य हुआ। तब मुनिराज ने कहा–

"पुत्री! इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, मरते समय उनका तुम्हारे प्रति बहुत ही मोह था अतः वह आर्तध्यान से मरकर तिर्यंच योनि में आ गया है।"

भवदत्ता ने घर आकर उस मेढक को सारी कथा सुना दी। सुनते ही मेढक को जातिस्मरण हो गया।

"अहो! मैं इस घर का स्वामी, इतना बड़ा धनी, बुद्धिमान सेठ था और आज इस तिर्यंच योनि में तुच्छ मेढक की पर्याय में आ गया हूँ।"

किन्तु बेचारा अब क्या कर सकता है? अपने कृतकर्मों की निंदा करते हुये, पश्चाताप करते हुए समय यापन कर रहा था। एक दिन राजगृह में वैभार पर्वत पर भगवान महावीर स्वामी का समवसरण आया है सुनकर राजा श्रेणिक बहुत बड़े लवाजमें के साथ भगवान के दर्शन के लिये चल पड़ते हैं। लाखों की संख्या में स्त्री-पुरुष भगवान की वंदना के लिये चले जा रहे हैं। सेठानी भवदत्ता भी दर्शन के लिये चली जाती है। तभी मेढक भी बावड़ी से एक कमल की पाँखुड़ी तोड़कर मुख में दबाकर भगवान महावीर के दर्शन की भावना से चल पड़ता है। वह मार्ग में फुदकता हुआ चला जा रहा है किन्तु इतनी भीड़ में उसको कहाँ गति है? बेचारा मेढक राजा श्रेणिक के हाथी के पैर तले कुचल जाता है। तत्क्षण ही उसके प्राण निकल जाते हैं और अन्तर्मुहूर्त में वह मेढक का जीव देव पर्याय में जन्म ले लेता है। वहां पर अपने अवधिज्ञान से जान लेता है कि मेढक की पर्याय से छूटकर यहाँ देव योनि में आ गया

हूँ, साथ ही उसे यह भी बोध हो जाता है कि पत्नी के मोह में मरकर मैं मेढक हो गया था और भगवान की भक्ति-वंदना की भावना मात्र से मरकर इतने महान् देवों के वैभव को प्राप्त करने वाला देव हो गया हूँ तो जो प्रत्यक्ष में भगवान की भक्ति करते हैं भला उन्हें कितना पुण्य मिलता होगा? सचमुच में जिनेन्द्र देव की पूजा कल्पवृक्ष से अधिक उत्तमोत्तम फल देने वाली है।

ऐसा सोचकर वह तत्क्षण ही भगवान् महावीर के दर्शन के लिये समवसरण में आ गया। भगवान को गंधकुटी में विराजमान देखकर भक्ति विभोर हो गद्गद वाणी से स्तुति करते हुए नाचने लगा। उस समय उसने अपने मुकुट में मेढक का चिन्ह बना रखा था। राजा श्रेणिक वहाँ पहुँचकर भगवान की वंदना करके जब एक देव को भक्ति से तन्मय देखते हैं और उसके मुकुट में मेढक का चिन्ह देखते हैं तो कौतुकवश गौतम स्वामी से प्रश्न करते हैं–

''हे भगवन्! यह देव कौन है? और इसके मुकुट में मेढक के चिन्ह का क्या रहस्य है?''

तभी गौतम स्वामी उस मेढक का सारा इतिहास सुना देते हैं। जिससे सभा में बैठे हुये असंख्य देवगण तथा सभी राजा-महाराजा आदि मनुष्य लोग ''जिनपूजा'' के माहात्म्य को प्रत्यक्ष में देखकर बहुत ही प्रभावित होते हैं। कितने ही भव्य लोग नित्यप्रति 'देवपूजा' करने का नियम लेकर अपने मनुष्य भव को सफल बना लेते हैं। यह है अर्हंत देव की भक्ति का अचिन्त्य फल। सच है जब अर्हंत भक्ति अपने भक्त को साक्षात् तीर्थंकर अर्हन्त बना देती है तब उससे भला अन्य और वस्तु क्या दुर्लभ हैं अर्थात् सब कुछ सुलभ है।

श्री अर्हंतदेव की भक्ति से बड़े-बड़े संकट टल जाते हैं और अकालमृत्यु तक दूर हो जाती है। इसका उदाहरण देखिये–

किसी समय पोदनपुर के राजा श्रीविजय राजसिंहासन पर विराजमान थे कि अकस्मात् एक पुरुष आकर बोला कि हे राजन्! आज से सातवें दिन पोदनपुर के राजा के मस्तक पर महावज्र गिरेगा अतः शीघ्र ही उसके प्रतीकार का विचार कीजिये। उसी समय कुपित होकर युवराज बोले कि तू सर्वज्ञ है तो बता उस दिन तेरे मस्तक पर क्या पड़ेगा? उस व्यक्ति ने कहा कि मेरे मस्तक पर अभिषेक के साथ रत्नवृष्टि पड़ेगी। उसके अभिमानपूर्ण वचन से राजा को

आश्चर्य हुआ। उसे आसन पर बिठाकर उसका परिचय आदि पूछा तब उसने बताया कि मैंने दिगम्बर मुनि के पास निमित्तज्ञान सीखा है। आज कुछ निमित्तों का फल जानकर मैंने सही बात बताई है। तब सभी ने उसको विदा करके चिंतित होकर राजा की सुरक्षा का विचार प्रारंभ किया। किसी ने कहा कि लोहे के संदूक में बंद कर समुद्र में रख दो, किसी ने कहा कि विजयार्ध की गुफा में छिपा दो आदि। इस पर मतिसागर नाम के बुद्धिमान मंत्री ने कहा कि निमित्तज्ञानी ने पोदनपुर नरेश के मस्तक पर वज्रपात की बात कही है तो मेरी समझ में ऐसा उपाय करो कि जिससे हर तरफ से लाभ हो। देखो! महाराज श्रीविजय सात दिन के लिये राज्य का त्याग कर मंदिर में धर्मध्यान करें, यदि जीवित रहे तो पुनः राज्य करेंगे, यदि मरण होगा तो समाधि से मरकर स्वर्ग प्राप्त करेंगे। यह बात राजा को और सभी मंत्री वर्गों को जंच गई।

अनंतर मंत्रियों ने एक यक्ष की प्रतिमा को राज्यसिंहासन पर स्थापित कर 'आप पोदनपुर के राजा हैं' ऐसा कहकर उसकी पूजा की। इधर राजा ने सर्व भोगादि का त्याग कर दान-पूजन आदि कार्य प्रारंभ कर दिये और जिनचैत्यालय में शांति कार्य करते हुए बैठ गये। सातवें दिन भयंकर शब्द करते हुए महावज्र उस यक्ष की मूर्ति पर गिरा और राजा मंदिर में पूजा पाठ करते हुए इस उपद्रव से बच गया। इस घटना से नगरनिवासीजनों में बहुत ही हर्ष व्याप्त हो गया, सर्वत्र नगाड़े आदि बाजे बजने लगे। राजा श्रीविजय की अकालमृत्यु का योग टल गया, ऐसा समझ कर सभी मंत्रियों ने अरहंत भगवान की भक्ति के साथ शांति पूजा की, महाभिषेक किया और राजा को सिंहासन पर बिठाकर सुवर्ण घड़ों से उनका राज्याभिषेक किया।

पुनः राजा ने उसी समय बड़े हर्ष के साथ निमित्तज्ञानी को बुलाकर उसका सत्कार किया और पद्मिनी-खेट के साथ-साथ सौ गांव उसे दे दिये।उसके बाद बहुत काल तक इन्होंने सुख से राज्य किया। इस श्रीविजय से नवमें भव में ये ही महापुण्यशाली भगवान शांतिनाथ के समवसरण में चक्रायुध नाम के गणधर हुये हैं।

यदि ये श्रीविजय महाराज राज्य का त्याग कर धर्म का अनुष्ठान नहीं करते तो अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते और राज्य में मरकर दुर्गति में

ही चले जाते। अतः–

अनंतानंतसंसार संततिच्छेदकारणम्।
जिनराजपदाम्भोजस्मरणं शरणं मम।।

ऐसी भवना करते हुये सदैव अर्हंत देव की भक्ति करते रहना चाहिये।

आचार्यभक्ति भावना

परहितकर प्रवृत्तेषु (आचार्येषु) भावविशुद्धि युक्तोऽनुरागः भक्तिः।।11।।

परहित में प्रवृत्त हुये आचार्यों में भावविशुद्धिपूर्वक अनुराग करना आचार्य भक्ति है।[1]

आज तक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं, जाते हैं व जायेंगे वे सब आचार्यदेव का आश्रय लेकर ही गये हैं। यहाँ तक कि तीर्थंकर भी पूर्व जन्म में दीक्षा गुरु से ही दीक्षा लेते हैं पुनः तीर्थंकर प्रकृति के सत्ता में रहने से ही वे इस भव में स्वयं दीक्षित होते हैं। चन्द्रगुप्त मुनिराज श्री भद्रबाहु आचार्य की भक्ति से उन्हीं के पास रह गये। गुरु की समाधि के बाद वहीं गुरु की निषद्या की वंदना करते हुये रहने लगे। बाहर वर्ष तक देवों ने उन्हें नगर बसाकर आहार दिया।[2] जब मुनियों का संघ वहाँ आया, कुछ साधु आहारार्थ गये, वापस एक मुनि कमंडलु भूल आये, मध्यान्ह में लेने को गये तब वहाँ कमंडलु को वृक्ष में लटका हुआ देखा और कुछ गांव नजर नहीं आया। गुरु से निवेदन करने पर यह निश्चित हुआ कि आज तक मुनि चन्द्रगुप्त को देवों ने आहार दिया। चन्द्रगुप्त मुनिराज ने गुरु से इसका प्रायश्चित लिया क्योंकि देवों के हाथ का आहार दिगम्बर जैन साधु नहीं लेते हैं। देखिये आप श्रीचंद्रगुप्त की गुरुभक्ति कि जिसके प्रसाद से देवों ने उनकी परिचर्या की। सच है–

गुरु भक्तिः सती मुक्त्यै क्षुद्रं किं वा न साधयेत्।
त्रिलोकी मूल्य रत्नेन दुर्लभः किं तुषोत्करः।।

समीचीन गुरुभक्ति मुक्ति को प्राप्त कराने वाली होती है पुनः क्षुद्र कार्य क्या नहीं सिद्ध होंगे? क्या त्रैलोक्य मूल्य वाले रत्न से भूसे का ढेर खरीदना दुर्लभ है? नहीं। यह आचार्य भक्ति भी तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण है।

गुरुओं की मात्र हँसी का फल कितना बुरा होता है सो देखो–

किसी समय चतुर्विध संघ सम्मेदशिखर की वंदना के लिये जा रहा था उस समय एक 'अंतिक' नामक ग्राम से संघ निकला। दिगम्बर साधुओं को देखकर गाँव के लोग हँसने लगे। एक-एक को देखकर सबके सब हँसने लगे

1-2.पद्मपुराण, पर्व 32।

और कुवचन कहने लगे। उस ग्राम के एक कुम्भकार ने सबको हँसने से मना किया और संघ की स्तुति की। संघ के साधुओं को कुछ नहीं, उन्हें तो निंदा-स्तुति दोनों ही समान हैं। कुछ दिन बाद उस गांव में किसी ने चोरी की, तब राजा ने कुपित होकर घेरा डालकर सारा गाँव का गाँव जला दिया। जिस दिन वह गाँव जलाया गया उस दिन वह कुम्भकार कहीं बाहर गया हुआ था सो वह बच गया।

गुरुओं पर हँसने का दुष्परिणाम कितना बुरा निकला। पुनः वह कुम्भकार व्यापारी हुआ उसने सब कौड़ी खरीद ली। अनंतर ये सब कौड़ी मरकर गिजाई हो गये, कुम्भकार का जीव राजा हो गया सो उस राजा के हाथी के नीचे दबकर सब गिजाई मर गये। इन जीवों ने एक साथ पाप बांधा था सो एक साथ ही भोगते रहे। क्रमशः ये सबके सब सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र हो गये और यह कुम्भकार सगर चक्रवर्ती का पोता भागीरथ हो गया है।

गुरुभक्ति से स्वयमेव विद्यायें सिद्ध हो जाती हैं। देखो, एकलव्य भील का उदाहरण प्रसिद्ध है–

किसी समय वन में अर्जुन ने एक कुत्ते को देखा, उसका मुख बाण प्रहार से भरा हुआ था। उसे देख अर्जुन ने सोचा यह शब्दभेदी धनुर्विद्या गुरु ने मुझे ही दी है, इसका जानकार यहाँ कौन है? खोजते-खोजते एक भील मिला। वार्तालाप होने से उसने कहा 'मेरे गुरु द्रोणाचार्य हैं मैंने उन्हीं से यह विद्या सीखी है।' अर्जुन के आश्चर्य का पार नहीं रहा। तब भील ने वन में बनाये हुये मिट्टी के स्तूप के पास ले जाकर अर्जुन को दिखाया और कहा–मेरे गुरु ये ही हैं। मैंने इन्हीं में द्रोणाचार्य की कल्पना कर रखी है। मैं इसी स्तूप को गुरु मानकर उपासना करके शब्दभेदी धनुर्विद्या में निपुण हुआ हूँ।

अर्जुन ने हस्तिनापुर आकर गुरु द्रोणाचार्य से सारी घटना सुना दी और कहा कि वह पापी भील निरपराध पशुओं को मारकर पाप कर्म का संचय कर रहा है, आपको उसे रोकना चाहिए। गुरु द्रोणाचार्य अर्जुन के साथ वहाँ गये जब भील को पता चला कि सचमुच में ये ही द्रोणाचार्य हैं, उसकी भक्ति का पार नहीं रहा। गद्‌गद् होकर उसने साष्टांग नमस्कार किया, बहुत ही भक्ति प्रदर्शित की। द्रोणाचार्य ने कहा कि "मैं एक वस्तु तुम से माँगूं तुम दोगे?" उत्तर

में उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया। तब गुरु ने कहा ''दाहिने हाथ का अँगूठा मुझे दे दो'' उस भील ने उसी समय अपना अंगूठा काटकर दे दिया। अब वह बाण चलाने में असमर्थ हो गया और जीव हिंसा से बच गया।

देखो! गुरु भक्ति से भील ने आज भी अपना नाम अमर कर दिया है।

जो आज गुरुओं से द्रोह करते हैं, निंदा करते हैं, उपेक्षा करते हैं, उन्हें पाप अवश्य लगता है।

जो गुरुभक्ति करते हैं वे अनेकों लौकिक सुखों को प्राप्त करके एक दिन मोक्ष सुख को भी प्राप्त कर लेते हैं किन्तु जो निंदा करते हैं वे गुरुद्रोही, कृतघ्नी, आत्मद्रोही, महापापी हैं बहुत काल तक संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं इसलिये गुरु विरोध कभी नहीं करना चाहिये और सदैव गुरु भक्ति करते रहना चाहिये।

'गुरु भक्तिः सती मुक्त्यै क्षुद्रं किं वा न साधयेत्'

जब गुरु भक्ति मुक्ति को भी प्राप्त करा देती है तब छोटे-छोटे कार्यों की सिद्धि करा देवे इसमें आश्चर्य ही क्या है?

यह आचार्य भक्ति नाम की ग्यारहवीं भावना है जो कि संसार समुद्र से पार कराने वाली है।

बहुश्रुतभक्ति भावना

स्वपर समय विस्तर निश्चयज्ञेषु च बहुश्रुतेषु।
भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्तिः।।12।।

स्व समय पर-समय पर विस्तार से जानने वाले बहुश्रुत उपाध्यायों में भावों की विशुद्धिपूर्वक अनुराग होना बहुश्रुत भक्ति है।

बहुश्रुत को धारण करने वाले महामुनि ही हम लोगों को सच्चा मोक्षमार्ग दिखलाते हैं। भावश्रुत और अर्थ पदों के कर्ता तीर्थंकर हैं। अनंतर इंद्रभूति ने बाहर अंग और चौदह पूर्वरूप ग्रंथों की एक ही मुहूर्त में क्रम से रचना की थी इसलिये वे गौतम स्वामी ग्रन्थकर्ता हैं। परम्परा से यह श्रुतज्ञान अंग और पूर्व के एकदेश रूप में धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ। सौराष्ट्र देश में गिरिनगर के निकट ऊर्जयन्तगिरि नाम का महान् पर्वत है। उस पर्वत की चन्द्रगुहा में निवास करने वाले परममुनियों में प्रधान तपस्वी धरसेन नाम के महान् आचार्य हो गये हैं। इन्हें 'अग्रायणीय' नामक द्वितीय पूर्व की पंचम वस्तु के चतुर्थ महाकर्मप्राभृत का ज्ञान था। किसी समय अपनी आयु अल्प जानकर आचार्यश्री ने मन में विचार किया कि जितना भी श्रुतज्ञान मुझे है यदि कोई इसे ग्रहण नहीं कर लेगा तो भविष्य में इसका व्युच्छेद हो जावेगा।

उसी समय देशेन्द्र नामक देश में वेणाकतटीपुर में महामहिमा के अवसर पर विशाल मुनिसमुदाय विराजमान था। श्री धरसेनाचार्य ने एक ब्रह्मचारी के हाथ से वहाँ मुनियों के पास एक पत्र भेजा। वहाँ के साधुगण ने भी ब्रह्मचारी के हाथ से उस पत्र को लेकर उसे खोलकर पढ़ा। उसमें लिखा था–

स्वस्ति श्रीमत इत्यूर्जयंततटनिकटचन्द्रगुहा।
वासाद् धरसेनगणी वेणाकतटसमुदितयतीन्।।
अभिवंद्य कार्यमेवम् निगदत्यत्माकमायुरवशिष्टम्।
स्वल्पं तस्मादस्मच्छुतस्य शास्त्रस्य व्युच्छितिः।।
न स्यादयथा तथा द्वौ यतीश्वरो गृहणधारण समर्थौ।
निशितप्रज्ञौ यूयं प्रस्थापयत.....।।

'स्वस्ति श्रीमान् ऊर्जयंततट के निकट स्थित चन्द्रगुहावास से धरसेनाचार्य

वेणाकतट पर स्थित मुनि समूहों की वंदना करके इस प्रकार से कार्य को कहते हैं कि हमारी आयु अब अल्प ही अवशिष्ट रही है इसलिये हमारे श्रुतज्ञान का व्युच्छेद जिस प्रकार से न होने पाये उसी तरह से आप लोग तीक्ष्ण बुद्धि वाले श्रुत को ग्रहण और धारण करने में समर्थ ऐसे यतीश्वरों को यहाँ मेरे पास भेजो।

इस पत्र के अर्थ को अच्छी तरह समझकर वहाँ पर स्थित संघ के प्रमुख साधुओं ने अपने समुदाय में अन्वेषण करके अत्यंत कुशल दो मुनियों को भेज दिया। वे मुनिश्री वहाँ ऊर्जयंत गिरि पर आ गये।

जिस दिन वे मुनि वहाँ पहुँचने वाले थे उसकी पहली रात्रि के अंतिम प्रहर में भी धरसेनाचार्य ने स्वप्न देखा कि दो श्वेत बैल मेरे चरणों में नमस्कार कर रहे हैं। इस स्वप्न के देखते ही आँखें खुल गईं और 'जयतु श्रुतदेवता' इस प्रकार के उच्चारण करते हुए गुरुदेव उठ बैठे। अतः प्रातःकाल ही वे दोनों मुनि गुरुदेव के चरण सान्निध्य में पहुँच गये।

उन दोनों मुनियों ने गुरुदेव की वंदना की। गुरु ने भी शास्त्रोक्त विधि से उनका आदर किया। आगंतुक मुनियों ने तीन दिन तक विश्राम करके अनंतर अपने आगमन का हेतु निवेदित किया। तब गुरु ने मन में विचार किया कि यद्यपि ये योग्य प्रतीत होते हैं तो भी इनकी बुद्धि की परीक्षा अवश्य ही कर लेनी चाहिये क्योंकि सुपरीक्षित शिष्य ही सर्वांगीण योग्य माने जाते हैं। अनंतर गुरु ने उन दोनों मुनियों को एक-एक विद्या सिद्ध करने के लिये दी। वे दोनों गुरुदेव के द्वारा दी गई विद्या को लेकर और उनकी आज्ञा से श्री नेमिनाथ तीर्थंकर की सिद्धभूमि पर जाकर विधानपूर्वक अपनी-अपनी विद्या की साधना करने लगे जब उनकी विद्या सिद्ध हो गई तब उनके सामने दो देवियाँ आईं। उनमें से एक देवी के एक ही आँख थी और दूसरी देवी के दाँत बड़े थे।

मुनियों ने जब सामने स्थित इन देवियाँ को देखा तब मन में विचार किया कि देवताओं का यह स्वभाव नहीं है, अवश्य ही हम दोनों के मंत्रों में कुछ अशुद्धि है, तब विद्यायंत्र व्याकरण से उन मंत्रों को देखा। उसमें से जिनके सामने एक आँख वाली देवी आई थी उन्होंने अपने मंत्र में एक वर्ण कम पाया तब मन्त्र व्याकरण के अनुसार ही उसमें शुद्धवर्ण को मिलाकर मंत्र शुद्ध किया तथा जिनके सामने लम्बे दांत वाली देवी आई थी उन्होंने अपने मंत्र को अच्छी

तरह देखने पर एक वर्ण अधिक पाया तब मंत्र व्याकरण शास्त्र से उसको निकाल कर मंत्र शुद्ध किया। पुनरपि इन दोनों मुनियों ने अपने शुद्ध मंत्रों का अनुष्ठान किया, मंत्रों की सिद्धि हो जाने पर उनके सामने देवियाँ दिव्य रूप में प्रगट हो गईं और बोलीं–हे नाथ! क्या आज्ञा है? बोलिये–

वे मुनि बोले–देवियों! हमारा ऐहिक और पारलौकिक ऐसा कुछ भी कार्य नहीं है जो आप दोनों के द्वारा सिद्ध किया जा सके, मैंने तो केवल गुरुदेव की आज्ञा से ही विद्यामंत्र की आराधना की है। ऐसा सुनकर वे देवियाँ अपने स्थान को चली गईं। दोनों मुनिराजों ने मुदितमना वहाँ से आकर गुरु के पास सारा वृतांत निवेदित कर दिया। गुरु ने भी उन्हें अतिशय योग्य समझ करके शुभ मुहूर्त में ग्रंथ पढ़ाना प्रारंभ कर दिया। उन दोनों मुनियों ने गुरु विनय और ज्ञान विनय को करते हुये प्रमादरहित होकर अध्ययन करना शुरू कर दिया।

कुछ दिन व्यतीत हो जाने पर आषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन ग्रंथ अध्ययन की समाप्ति हुई। उस दिन ही देवों ने इन दोनों मुनियों की पूजा की। एक मुनिराज के दाँतों की विषमता को दूर कर देवों ने उनके दाँत कुन्द पुष्प के समान सुन्दर करके उनका ''पुष्पदन्त'' यह नामकरण किया तथा दूसरे मुनिराज की भी भूत जाति के देवों ने तूरनाद, जयघोष और गंध पुष्पमाला, धूप आदि से पूजा करके ''भूतबलि'' ऐसा नाम घोषित किया।

अनंतर श्री धरसेनाचार्य ने विचार किया कि अब मेरी मृत्यु का समय निकट है। इन दोनों शिष्यों को संक्लेश न हो जावे अतः उन्हें प्रियहित वचनों द्वारा योग्य उपदेश देकर दूसरे ही दिन वहाँ से कुरीश्वर देश की तरफ विहार करा दिया। वे दोनों मुनिराज गुरु की पुनः-पुनः वंदना करके गुरु से अमूल्य निधिरूप श्रुतज्ञान को लेकर वहाँ से निकले और नौ दिनों में उस नगर में जाकर आषाढ़ वदी पंचमी। (श्रावण वदी पंचमी)[1] को वर्षायोग ग्रहण कर लिया। वर्षाकाल समाप्त कर वे मुनि दक्षिण की तरफ विहार करके करहाठ देश में पहुँच गये।

---

1. दक्षिण और गुजरात में प्रत्येक मास की सुदी के बाद बदी आता है। अतः वहाँ श्रावण बदी को आषाढ़ बदी और भादों बदी श्रावण बदी आदि मानते हैं।

उनमें से पुष्पदंत महामुनि ने ''जिनपालित'' नाम के अपने भानजे को देखकर उसे दीक्षा देकर अपने साथ लिया और वनवास देश में निकल गये। भूतबलि मुनिराज द्रविड़ देश की मथुरा नगरी में ठहर गए। पुष्पदंत मुनिराज अपने भानजे को पढ़ाने के लिये ''महाकर्म प्रकृति प्राभृत'' का छह खण्डों में उपसंहार करना चाहते थे अतः उन्होंने बीस अधिकार गर्भित सत्प्ररूपणा सूत्रों को बनाकर शिष्य को पढ़ाया और श्री भूतबली गुरु का अभिप्राय जानने के लिये जिनपालित को यह ग्रंथ देकर उनके पास भेज दिया। इस रचना की और पुष्पदंत मुनि के षट्खण्डागम रचना के अभिप्राय को जानकर एवं उनकी आयु भी अल्प है ऐसा समझकर श्री भूतबलि आचार्य ने द्रव्य प्ररूपणा आदि अधिकारों को बनाया। इस तरह पूर्व के सूत्रों सहित छह हजार श्लोक प्रमाण में इन्होंने पाँच खण्ड बनाये और तीस हजार प्रमाण सूत्रों में ''महाबंध'' नाम का छठा खण्ड बनाया। छह खण्डों के नाम – जीवस्थान, क्षुद्रकबंध, स्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और महाबंध हैं।

भूतबलि आचार्य के इन षट्खण्डागम सूत्रों को पुस्तकबद्ध किया और ज्येष्ठ सुदी पंचमी के दिन चतुर्विध संघ सहित कृतिकर्मपूर्वक महापूजा की। उसी दिन से इस पंचमी का ''श्रुतपंचमी'' यह नाम प्रसिद्ध हो गया और तब से लेकर आज तक जैन लोग इस श्रुतपंचमी के दिन श्रुत की पूजा करते आ रहे हैं।

पुनः भूतबलि ने जिनपालित को षट्खण्डागम ग्रंथ देकर पुष्पदंत मुनि के पास भेज दिया। उन्होंने अपने चिंतित कार्य को पूरा हुआ देखकर महान् हर्ष और श्रुत के अनुराग से चातुर्वर्ण संघ के मध्य गंध, अक्षत, माला, वस्त्र, चंदोवा, घंटा आदि के द्वारा महापूजा की। इस तरह षट्खण्डागम श्रुत की उत्पत्ति और ''श्रुतपंचमी'' की प्रसिद्धि का वर्णन हुआ।

इसी तरह श्री गुणधर आचार्य ने ''कषायप्राभृत'' नाम का सिद्धांत ग्रंथ बनाया है। इन षट्खण्डागम और कषायप्राभृत दोनों सिद्धांत ग्रंथों पर अनेक टीकायें रची गई हैं, जिनमें ''षट्खण्डागम'' की ''धवला'' टीका ही उपलब्ध है शेष नहीं एवं कषायप्राभृत के चूर्णिसूत्र एवं ''जयधवला'' टीका उपलब्ध हैं और महाबंध पर ''महाधवला'' नाम की टीका उपलब्ध है।

षट्खण्डागम के ऊपर रची गई टीकायें, उनके रचयिता आचार्य और उनका अनुमानित समय देखिये–

टीका के नाम	आचार्य	श्लोक प्रकाण टीकायें	शताब्दी
परिकर्म	कुंदकुंद देव	12000	दूसरी
पद्धति	शामकुंड	12000	तीसरी
चूड़ामणि	तुम्बुलु	91000	चौथी
संस्कृतमयी	तार्किकार्क समंतभद्र	48005	पाँचवीं
व्याख्या प्रज्ञप्ति	वप्पदेवगुरु	8000	छठी
धवला	श्रीवीरसेन	92000	आठवीं
महाधवला	श्रीजिनसेन	+	नवमीं

ऐसे महान ग्रंथराज की जिस दिन पूजा हुई है और द्वादशांग का अंश रूप होने से जिसका महावीर प्रभु की वाणी से सीधा संबंध है ऐसे ''धवल'' ग्रंथों को विराजमान कर उनकी श्रुतपंचमी के दिन महामहोत्सव से पूजा करिये जिससे ज्ञान का क्षयोपशम वृद्धिंगत होकर आगे केवलज्ञान की प्राप्ति होगी।

इसी तरह श्री कुंदकुंद देव, पूज्यपाद स्वामी, अकलंक देव आदि ने बहुश्रुत गुरुओं की भक्ति करके ही महान-महान् ग्रंथों का सृजन किया है। जिन ग्रंथों के दर्शन से, स्वाध्याय से आज हम लोगों का मोक्षमार्ग प्रशस्त हो रहा है अतः यह बहुश्रुतभक्ति भावना भी तीर्थंकर प्रकृति बंध का कारण है।

प्रवचनभक्ति भावना

प्रवचने च श्रुतदेवतासन्निधिगुणयोगदुरासदे मोक्षपदभवनारोहणसुरचित-सोपानभूते भावशुद्धियुक्तोऽनुरागः भक्तिः।।13।।

श्रुतदेवता के प्रसाद से कठिनता से प्राप्त होने वाले और मोक्ष महल पर आरोहण करने के लिये सीढ़ीरूप ऐसे प्रवचन में भावविशुद्धिपूर्वक अनुराग करना प्रवचनभक्ति है।

प्रवचन अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के मुख से निकले हुये वचन जो कि पूर्वापर दोष रहित शुद्ध होते हैं उन्हें 'आगम' यह संज्ञा भी है। गणधर देव ने इन जिन वचनों को द्वादशांगरूप में गूँथा है। आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह अंग हैं। अंतिम अंग में ही परिकर्म सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ऐसे पाँच भेद हैं। चतुर्थ भेद पूर्वगत के उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व आदि चौदह भेद होते हैं।

वर्तमान में अंग-पूर्वरूप श्रुतज्ञान नहीं है फिर भी उसी के अंशरूप श्रुत को प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगरूप में कहा गया है। यह उपलब्ध श्रुत भी साक्षात् जिनेन्द्र भगवान के वचनरूप ही है। "जैसे कि नदी का जल घड़े में भर लेने पर भी वह नदी का ही है।"[1]

इस श्रुतज्ञान को भी गुणभद्रसूरि श्रुतस्कंध कहते हुये बहुत ही सुन्दर भाव दर्शाते हैं–

अनेकांतात्मार्थ प्रसवफलभारातिविनते।
वचः पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।।
समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं।
श्रुतस्कंधे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्।।170।।

जो श्रुतस्कंधरूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप एवं फूल-फलों के भार से अतिशय झुका हुआ है, वचनों रूप पत्तों से व्यक्त है, विस्तृत नयों रूप सैकड़ों शाखाओं से युक्त है, उन्नत है तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञानरूप जड़ से स्थिर है, उस श्रुतज्ञानरूप वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान् साधु अपने मनरूप बंदर को प्रतिदिन रमाता रहे।

---

1. "नद्या नवघटे जलं" (प्रमेयरत्नमाला)।

पटना नगर के राजा चन्द्ररुचि की चन्द्रप्रभा रानी के श्रुतशालिनी नाम की एक कन्या थी। उसने जिनमती आर्यिका के पास विद्याध्ययन किया। एक दिन घर में स्वतः बुद्धि से चौकी पर उसने श्रुतस्कंध मण्डल बनाया। यह देखकर सभी को बहुत ही आश्चर्य हुआ। एक दिन उद्यान में श्री वर्द्धमान मुनि को आया सुनकर राजा सपरिवार वंदना हेतु गये। वहाँ पर कन्या के विषय में प्रश्न किया। मुनिराज ने कहा–राजन्! यह विदेह क्षेत्र में राजा गुणभद्र की रानी गुणवती थी। श्री सीमंधर भगवान के मुख से श्रुतस्कंध व्रत का महत्त्व सुनकर इसने विधिवत् उसका अनुष्ठान किया था। इस व्रत के माहात्म्य को सुनकर पुनः श्रुतशालिनी ने उसका विधिवत् अनुष्ठान किया। चारित्र के प्रभाव से विषय कषायों को अतिशय मंद कर अंत में समाधिपूर्वक मरण करके इंद्रपद प्राप्त कर लिया। वहाँ से च्युत होकर विदेह क्षेत्र के अशोकपुर नगर के राजा पद्मनाथ की पट्टरानी जितपद्मा के गर्भ से पुत्र होकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके नयंधर नाम के तीर्थंकर प्रसिद्ध हो गये। यह श्रुतस्कंध व्रत भादों बदी एकम् से शुरू होकर पूर्णिमा तक किया जाता है। इसी तरह जिनागम की पूजा, भक्ति, विनय करना व स्वाध्याय करना सब 'प्रवचन भक्ति' है।

मगध देश के अंतर्गत अहिच्छत्र नाम का एक सुन्दर शहर है। वहाँ के राजा का नाम अवनिपाल था। उसके यहाँ पाँच सौ अच्छे विद्वान् ब्राह्मण थे, वे वेद-वेदांग के जानकार थे और राज्यकार्य में भी अवनिपाल को अच्छी सहायता देते थे किन्तु उनमें एक अवगुण था कि वे लोग बड़े घमण्डी थे और अपने से सबको हीन समझते थे। वे प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल नियम से अपनी संवंदन आदि क्रियायें किया करते। उनमें विशेष बात यह थी कि जब वे राजसभा में जाते थे तो मार्ग में स्थित भगवान् पार्श्वनाथ के मंदिर में होकर जाया करते थे।

एक दिन एक चारित्रभूषण नाम के मुनिराज भगवान के सम्मुख देवागम स्तोत्र का पाठ कर रहे थे। उन सब ब्राह्मणों में प्रधान पात्रकेशरी ने वह स्तोत्र पाठ सुना, उन्हें वह बहुत ही भावपूर्ण और अच्छा लगा।

उन्होंने मुनि से कहा–

"क्या आप इसका अर्थ भी जानते हैं?"

मुनिराज ने कहा–

"नहीं, मैं तो केवल मात्र पढ़ता ही हूँ।"

पात्रकेसरी फिर बोले–

"हे मुने! इस स्तोत्र को पुनः एक बार पढ़कर सुना दीजिये।"

मुनिराज ने पुनः देवागम स्तोत्र पढ़ा। पात्रकेसरी की धारणा शक्ति बड़ी विलक्षण थी। उन्हें एक बार के सुनने से ही पूरा का पूरा स्तोत्र याद हो गया। वे घर गये और उसका अर्थ सोचने लगे। उस समय दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से उन्हें यह निश्चय हो गया कि जिनेन्द्रदेव ने जो जीवादि पदार्थों का स्वरूप कहा है वही सत्य है, इनसे अतिरिक्त और कुछ सत्य नहीं है। वे पात्रकेसरी रात्रि में सोचने लगे–

"अहो! इस स्तोत्र में तत्व की, सर्वज्ञ की मीमांसा करते हुए सच्चे तत्वों का और सच्चे देव का स्वरूप बताया है। प्रमाण और नयों का विवेचन भी बहुत ही सुन्दर है किन्तु अनुमान प्रमाण का लक्षण समझ में नहीं आ रहा है।"

ऐसा सोचते-सोचते वे चिंतानिमग्न हो गये। इसी बीच पद्मावती देवी का आसन कम्पायमान हुआ, उन्होंने आकर पात्रकेसरी से कहा–

"आपको अनुमान के लक्षण में संदेह है, चिन्ता मत कीजिये। प्रातः भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति के फणा पर लिखा हुआ लक्षण मिल जाने से आपकी शंका का समाधान आपको मिल जायेगा।"

पद्मावती माता के दर्शन से पात्रकेशरी को बहुत ही संतुष्टि हुई। वे प्रातः ही प्रसन्नमना पार्श्वनाथ जिन भगवान् के दर्शनार्थ पहुँचे। वहाँ फणा पर श्लोक लिखा देखते हैं–

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।।

अर्थ–जहाँ पर अन्यथानुपपत्ति है, वहाँ हेतु के दूसरे तीन रूप मानने से क्या प्रयोजन है ? तथा जहाँ पर अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहाँ हेतु के तीन रूप मानने से भी क्या फल है ?

साध्य के अभाव में हेतु के न मिलने को ही अन्यथानुपपन्न कहते हैं। इसलिये यह अन्यथानुपपत्ति हेतु का असाधारण लक्षण है किन्तु बौद्ध इसको

न मानकर हेतु के तीन रूप अवयव मानते हैं– पक्षे सत्व, सपक्षेसत्व और विपक्षाद् व्यावृत्ति। किन्तु जैनाचार्यों का कहना है कि कहीं-कहीं पर इन तीनों अवयवों के न रहने पर भी अन्यथानुपपत्ति के बल से हेतु समीचीन हेतु हो जाता है और कहीं-कहीं पर हेतु के तीन रूप रहने पर भी अन्यथानुपपत्ति के न होने से हेतु सत् हेतु न होकर अहेतु हो जाता है। जैसे एक मुहूर्त के अनंतर रोहिणी का उदय होगा क्योंकि अभी कृतिका का उदय है। यहाँ पर पक्षेसत्व न होकर भी अन्यथानुपपत्ति के बल से यह हेतु सच्चा हेतु है। तथा ''गर्भस्थ पुत्र काला होगा क्योंकि यह मैत्र सेठ का पुत्र है।'' यहाँ पर त्रैरूप्य के रहने पर भी अन्यथानुपपत्ति के न होने से यह हेतु हेत्वाभास है।

जब पात्रकेसरी विद्वान ने इस श्लोक को पढ़ा उनके आनंद का पार नहीं रहा, जैसे सूर्योदय के होने पर सम्पूर्ण अन्धकार भाग जाता है उसी प्रकार से उनका संदेहरूपी अंधकार भाग गया। इसके पश्चात् पात्रकेसरी विद्वान ने जिनेन्द्रदेव को ही अपना आराध्य देव बना लिया और दृढ़ सम्यग्दृष्टि बन गया। देखो, देवागम स्तोत्र के सुनने मात्र से उसका दर्शन मोह अंधकार दूर हो गया और वह सच्चा तत्वान्वेषी बन गया। जिनेन्द्रदेव के स्तोत्र, देवागम स्तोत्र, स्वयंभूस्तोत्र आदि जिनेन्द्र देव के प्रवचन के अंश को लिये हुए हैं। इन स्तोतों की या अन्य किसी भी जिनदेव द्वारा प्ररूपित और महामुनियों द्वारा कथित शास्त्र की प्रवचन यह संज्ञा है। उनकी भक्ति करना, विनय करना, पूजा करना, बड़े आदर से उन्हें अपने हृदय में धारण करना, उनका पढ़ना-पढ़ाना सब प्रवचन भक्ति के ही प्रकार हैं। यह देवागम स्तोत्र श्री समंतभद्र स्वामी द्वारा रचा गया है। इसमें आप्त की मीमांसा की गई है। इसी स्तोत्र पर श्री भट्टाकलंक देव ने अष्टशती भाष्य की रचना की और उस भाष्य को गुंफित करके श्री विद्यानंद आचार्य ने इसी स्तोत्र की 'अष्टसहस्री' नाम से विस्तृत टीका की है। जिसका नाम स्वयं ग्रंथकार ने 'कष्टसहस्री' कहा है। यह जैन दर्शन का सर्वोपरि न्याय ग्रंथ है। इसकी महिमा बहुत ही विशेष है। इसकी हिन्दी भाषा का अनुवाद हो चुका है। उसका स्वाध्याय आप सभी लोगों को अवश्य ही करना चाहिये। यह प्रवचन भक्ति भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध कराने वाली है।

आवश्यक अपरिहाणि भावना

षण्णामावश्यक क्रियाणां यथाकालप्रवर्तनमावश्यकाऽपरिहाणिः।।14।।

छह आवश्यक क्रियाओं को यथाकाल करना आवश्यक अपरिहाणि भावना है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक मुनियों के हैं। सभी जीवों में समताभाव रखते हुये विधिवत् त्रिकाल में सामायिक करना, चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना, किसी एक तीर्थंकर, सिद्ध, आचार्य आदि तथा इनके प्रतिबिम्बों की वंदना करना, व्रतों में लगे हुये दोषों का निराकरण करना, आगे होने वाले दोषों को दूर करना या कुछ वस्तु आहार आदि का त्याग करना तथा परिमित काल तक शरीर से ममत्व छोड़कर कायोत्सर्ग करना, क्रम से यह छह आवश्यक क्रियायें हैं। इन व्यवहार षट्क्रियाओं को जो नित्य ही समय-समय से करते हैं वे ही निश्चय आवश्यक क्रियाओं को प्राप्त करके अप्रमत्त आदि गुणस्थानों पर आरोहण करके केवली हो जाते हैं। जैसा कि कुंदकुंद स्वामी ने कहा है–

'सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं व काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा।।158।।

सभी पुराण पुरुष पूर्वोक्त कथित आवश्यक क्रियाओं को करके अप्रमत्त, अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों को प्राप्त करके केवली हो गये हैं।

एक सूर्यमित्र ब्राह्मण किसी समय संध्या वंदन करके सूर्य को अर्घ्य चढ़ा रहा था। इसी बीच में उसकी अंगुली से अँगूठी गिर गई। यह अँगूठी राजा की थी और रत्नों से निर्मित थी। पुरोहित चिंतातुर हो एक दिगम्बर मुनि के पास जाकर पूछने लगे।[1] अवधिज्ञानी श्री सुधर्ममुनि ने कहा वह अँगूठी तालाब में एक कमल पत्र पर गिरी है, सुबह मिल जायेगी। पुरोहित ने अँगूठी प्राप्त कर मन में यह सोचा कि यह विद्या सीखनी चाहिए। उसने सुधर्म मुनि से यह विद्या सिखाने की प्रार्थना की। मुनिराज ने कहा–तुम यदि मेरे समान दिगम्बर बनोगे तो यह विद्या आ जायेगी। वह मुनि बन गया और गुरु के कहे अनुसार समय से आवश्यक क्रियायें करने लगा। विनयपूर्वक विधिवत् यथाकाल षट्

1. नियमसार।

आवश्यकों को करते-करते सूर्यमित्र भावलिंगी सच्चे मुनि बन गये। तब गुरु ने पूछा कि गिरी वस्तु को प्राप्त करने की विद्या प्राप्त कर अब घर जाना है क्या ? सूर्यमित्र बोले – भगवन्! मुझे अनादिकाल से खोई हुई मेरी आत्मनिधि को प्राप्त कराने वाली विद्या (सम्यग्ज्ञान) मिल गई है अतः अपने मुक्तिमहल को ही जाना है, अन्यत्र नहीं। यह है आवश्यक का माहात्म्य।

श्रावकों के लिये भी 'देव पूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान' ये छह आवश्यक बताये गये हैं। उन्हें यथा-समय यथाशक्ति करना ही चाहिये। इनमें भी 'दाणं पूजा मुक्खो सावयधम्मो ण सावया तेण विणा'। इस वचन के अनुसार दान और पूजा को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझकर प्रतिदिन करना ही चाहिये। यही आवश्यक अपरिहाणि भावना है जो कि तीर्थंकर प्रकृति बंध के लिये कारण बन जाती है।

अयोध्या नगरी में कुबेर के समान वैभवशाली एक सुरेन्द्रदत्त नाम का सेठ रहता था। वह प्रतिदिन दश सुवर्ण दीनारों से जिनेन्द्रदेव की पूजा करता था तथा अष्टमी को सोलह दीनारों से, अमावस को चालीस दीनारों और चतुर्दशी को अस्सी दीनारों से विधिवत् अर्हंत देव की पूजा किया करता था। वह सेठ नित्य ही पात्रों को दान देता था, शील और उपवास का भी यथाशक्ति पालन किया करता था। इन्हीं सब कारणों से लोग उसे 'धर्मशील' इस उपाधि से संबोधित किया करते थे।

किसी एक दिन सेठ ने जलमार्ग से अन्यत्र द्वीप में जाकर धन कमाने की इच्छा की और बारह वर्ष बाद वापस लौटने का निर्णय किया इसलिये बारह वर्ष तक भगवान् की पूजा करने के लिये जितना धन आवश्यक था उतना धन उसने अपने मित्र ब्राह्मण रुद्रदत्त के हाथ में सौंप दिया और कहा कि मित्र! मेरे सदृश ही तुम हमेशा जिनेन्द्रदेव की पूजा, दान और कार्य करते रहना।

सेठ के चले जाने पर रुद्रदत्त ब्राह्मण ने वह समस्त धन परस्त्रीसेवन तथा जुआ आदि व्यसनों में समाप्त कर दिया, पुनः वह चोरी करने लगा। कोतवाल ने उसे चोरी करते हुये पकड़ कर कई बार डाँट कर छोड़ दिया, अंत में उसने एक दिन मृत्युदण्ड की धमकी दी तब वह पापी रुद्रदत्त वहां से निकल कर उल्कामुखी पर रहने वाले भीलों के झुण्ड में जा मिला। उनके साथ रहते हुये

एक बार चोरी के प्रसंग में कोतवाल के द्वारा मारा गया और पाप के फलस्वरूप नरक में चला गया। वहाँ से निकल कर महामच्छ हुआ, फिर नरक गया, वहाँ से आकर दृष्टिविष नाम का सर्प हुआ, पुनः नरक गया, वहाँ से आकर शार्दूल हुआ, फिर नरक गया, वहाँ से आकर गरुड़ हुआ फिर नरक गया, वहाँ से आकर सर्प हुआ फिर नरक गया और वहाँ से आकर भील हुआ। इस प्रकार समस्त नरकों के दुःखों को भोगकर पुनः त्रस-स्थावर योनियों में चिरकाल तक भ्रमण करता रहा।

अनंतर कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में गौतम कपिष्ठल नामक ब्राह्मण की अनुंधरी पत्नी से गौतम नाम का पुत्र हुआ। उत्पन्न होते ही उसका समस्त कुल नष्ट हो गया। उसे खाने के लिये अन्न तक नहीं मिलता था, पेट सूखकर अंदर धँस गया था, हड्डियाँ निकल आई थीं, नसों से लिपटा हुआ उसका शरीर बहुत ही विकट मालूम पड़ता था, उसके बाल जुओं से भरे हुये थे। वहाँ जहाँ कहीं भी जाता था, वहीं लोग उसे फटकार लगाते थे। वह सदा अपने हाथ में खप्पर लिये भिक्षा की याचना किया करता था। हमेशा ही 'देओ, देओ' ऐसे शब्दों से गिड़गिड़ाया करता था परन्तु वह इतना अभागा था कि भिक्षा से कभी भी उसका पेट नहीं भरता था। वह मुनियों के समान ही शीत, उष्ण, आतप, वायु आदि की बाधाओं को सहन करता था, सदैव मलिन रहता था और केवल जिह्वा इन्द्रिय के विषय की ही इच्छा रखता था चूँकि अन्य सब इन्द्रियों के विषय उसके छूट चुके थे।

'सातवें नरक के नारकियों का रूप ऐसा होता है' यहाँ के लोगों को यह बतलाने के लिये ही मानो विधाता ने उसकी सृष्टि की थी। वह अत्यन्त घृणित था, पापी था, यदि उसे कहीं पर कण्ठपर्यंत भोजन मिल भी जाता तो भी वह नेत्रों से अतृप्त जैसा ही मालूम होता था, वह जीर्ण-शीर्ण तथा छिद्र वाले अशुभ वस्त्र अपनी कमर पर लपेटे रहता था, उसके शरीर पर बहुत से घाव हो गये थे, उनसे महादुर्गंध निकल रही थी अतः उन पर बहुत सी मक्खियाँ भिनभिनाती रहती थीं, उन्हें वह हटाता रहता था किन्तु वे कभी नहीं हटती थीं अतः वह क्रोध से झुंझलाया करता था।

किसी एक समय श्री समुद्रसेन मुनिराज शहर में आहारार्थ भ्रमण कर

रहे थे। उन्हें देखकर कौतुक से यह बालक उनके पीछे लग गया। वैश्रवण सेठ के यहाँ मुनिराज का आहार हुआ। आहार के बाद सेठ ने उस गौतम ब्राह्मण को भी कण्ठ पर्यंत पूर्ण भोजन करा दिया। भोजन करने के बाद कालादि लब्धि के निमित्त से वह गौतम मुनिराज के आश्रम में जा पहुँचा और बोला कि प्रभो! आप मुझे भी अपने जैसा बना लीजिये। मुनिराज ने उसके वचन सुनकर पहले तो यह निश्चय किया कि वास्तव में यह भव्य है, फिर कुछ दिन अपने पास रखकर उसके हृदय की परख की। तदनंतर उन मुनि ने उसे शांति का साधनभूत संयम ग्रहण करा दिया। संयम को प्राप्त कर वह मुनि गुरु के आदेश से समय-समय पर सामायिक, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग क्रियाओं को करते हुये विधिवत् मुनिचर्या का पालन करने लगा। एक वर्ष के व्यतीत होते ही उसे बुद्धि आदि अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ प्रकट हो गईं। अब वह गौतम नाम के साथ-साथ ही गुरु के स्थान को प्राप्त हो गया अर्थात् उनके समान बन गया। आयु के अंत में उसके गुरु मध्यम ग्रैवेयक के सुविशाल नाम के उपरितन विमान में अहमिन्द्र हुए और श्री गौतम मुनिराज भी आयु के अंत में विधिपूर्वक आराधनाओं की आराधना करते हुये समाधिमरण करके उसी मध्यम ग्रैवेयक के सुविशाल विमान में अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुये। उन ब्राह्मण के जीव अहमिन्द्र ने वहाँ पर अट्ठाईस सागर की आयु पूर्ण की, वहाँ से च्युत होकर अन्धकवृष्टि नाम के राजा हुये हैं। ऐसा श्री सुप्रतिष्ठ केवली ने अंधकवृष्टि महाराज से उनके भवान्तर सुनाये थे।

जब अज्ञानी ब्राह्मण भी आवश्यक क्रियाओं की हानि न कर यथासमय उनका पालन करते हुये अहमिन्द्र बन गया है तब विशेष मुनियों की क्या कथा है ? यह चौदहवीं भावना भी तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव का कारण है।

मार्गप्रभावना भावना

ज्ञानतपोजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावनम्।।15।।

पर समयरूपी जुगुनुओं के प्रकाश को पराभूत करने वाले ज्ञान रवि की प्रभा से इंद्र के आसन को कंपा देने वाले महोपवास आदि सम्यक् तपों से तथा भव्यजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्यप्रभा के समान जिनपूजा के द्वारा सद्धर्म का प्रकाश करना मार्गप्रभावना है।

समय-समय पर आचार्यों ने अपने ज्ञान के बल से परवादियों को जीतकर धर्मध्वज ऊँचा किया है। तपश्चरण के द्वारा अनेकों ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त कर धर्मध्वजा फहराई है और अनेकों महर्षियों व श्रावकों ने पूजा विधि-विधान से लोक में धर्मप्रभावना की है।

मथुरा के राज पूतिगंध की रानी बुद्धिदासी बौद्धधर्मी थी और उर्विला रानी जैनधर्मी थी। सदा की तरह आष्टान्हिक महापर्व में रानी उर्विला जैन रथ निकलवाने की तैयारी में लगी हुई थी कि इसी बीच बुद्धिदासी ने महाराज से कहा कि पहले बुद्धदेव का रथ निकलेगा पीछे जैन का। रानी उर्विला चिंतित होकर चतुराहार त्याग कर वज्रकुमार महामुनि के निकट पहुँची और सर्व वृत्तांत कह दिया। उसी समय मुनीश्वर की वंदना हेतु दिवाकर देव आदि बहुत से विद्याधर आये हुये थे। वज्रकुमार मुनि ने कहा कि आप लोग समर्थ हैं, धर्म के संकट को दूर कर जैसे बने वैसे पहले जिनेन्द्र देव के रथ को निकलाइए। गुरु की आज्ञा पाकर के विद्याधर अपने विमान में बैठकर मथुरा नगरी पहुँचे और बहुत ही उत्सव के साथ उर्विला की प्रतिज्ञानुसार पहले जैन रथ निकलवा दिया, उस समय जैनधर्म की खूब ही प्रभावना हुई। राजा ने भी जैनधर्म को स्वीकार कर लिया। अनेकों ने मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यक्त्व को धारण कर लिया।

श्री कुन्दकुन्द देव ने भी जब संघ सहित गिरनार यात्रा की, तब श्वेताम्बर साधु के साथ वंदना करने के लिये विवाद उठ खड़ा हुआ। पुनः यह बात रही कि अंबिका यक्षिणी की मूर्ति जो कह दे सो ठीक है। श्री कुन्दकुन्द देव ने उस मूर्ति से यह कहलवा दिया कि 'सत्य पंथ निर्ग्रंथ दिगम्बर' तब दिगम्बर संघ

ने पर्वत की पहले वंदना की पुनः श्वेताम्बर संघ ने वंदना की। अकलंक देव ने बौद्धों की तारादेवी के साथ छह महीने शास्त्रार्थ कर अंत में स्याद्वाद की ध्वजा को ऊँचा किया था, आदि अनेकों उदाहरण हैं।

एक बार दशानन पुष्पक विमान पर बैठकर अपने मंत्रियों, नागरिकजनों, पुत्रों, माता-पिता तथा बंधुजनों के साथ आकाशमार्ग से विचरण कर रहा था। तब पर्वत के शिखर से गुजरते हुये आश्चर्यचकित हो अपने दादा सुमाली से पूछता है–

'हे पूज्य! इस पर्वत के शिखर पर सरोवर तो हैं नहीं, पर वहाँ कमलों का वन कैसे लहलहा रहा है सो इस महा-आश्चर्य को आप देखें।

तब सुमाली ''नमः सिद्धेभ्यः'' कहकर हाथ जोड़कर शिर से नमस्कार करके बोलो–

''वत्स! ये कमल नहीं है, प्रत्युत जिन पर सफेद पताकायें फहरा रहीं हैं तथा जिनमें हजारों प्रकार के तोरण बने हुये हैं ऐसे-ऐसे ये जिनमंदिर पर्वत के शिखरों पर शोभित हो रहे हैं। ये सब मंदिर महापुरुष हरिषेण चक्रवर्ती के द्वारा बनवाये गये हैं। हे पुत्र! तू इन्हें नमस्कार कर और क्षण भर में अपने मन को पवित्र कर।''

इतना सुनते ही दशानन ने वहीं खड़े रहकर भक्तिभाव से जिनालयों को नमस्कार किया और पुनः पूछा–

''हे पूज्यवर! हरिषेण का ऐसा क्या माहात्म्य है कि जिससे आपने उसका ऐसा कथन किया है ?''

सुमाली ने कहा–

''हे दशानन! सुनो, इन हरिषेण का चरित्र महापुण्य का कारण है। कांपिल्य नगर में सिंहध्वज नाम का महाप्रतापी राजा राज्य करता था। उनकी वप्रा नाम की पट्टरानी थी जो कि पातिव्रत्य आदि गुणों से विभूषित सम्यग्दृष्टि थी तथा राजा की सैकड़ों रानियों में प्रधान थी। रानी वप्रा के तेज और गुणों का पुंज ऐसा हरिषेण नाम का एक पुत्र था। सिंहध्वज के महालक्ष्मी नाम की रानी थी जिनको भी पट्टरानी पद प्राप्त था। यह सौभाग्य के गर्व से उन्मत्त तथा सम्यग्दृष्टि थी।

एक दिन इस लक्ष्मीमती रानी ने वप्रा रानी के विरुद्ध कदम उठाया कि "पहले मेरा ब्रह्म रथ नगर में घूमेगा। उसके पीछे वप्रारानी के द्वारा बनवाया हुआ जैन रथ घूमेगा।"

यह सुनकर वप्रारानी को इतना दुःख हुआ मानो उसके हृदय पर वज्र का ही प्रहार हुआ हो। दुःख से संतप्त हो उसने यह प्रतिज्ञा कर ली कि–

"यदि मेरा जैन रथ नगर में पूर्व की तरह पहले घूमेगा तो मैं अन्न ग्रहण करूँगी अन्यथा नहीं।"

और वह शोक से विह्वल हो रोने लगी। माता को रोते देख आश्चर्यचकित हो हरिषेण ने पूछा–

"हे मातः! जिसका पहले कभी तुमने स्वप्न में भी सेवन नहीं किया था ऐसा अमांगलिक रुदन क्यों प्रारंभ किया है ? मुझे अपने दुःख का कारण शीघ्र ही कहो।"

माता ने कहा–

"पुत्र! महारानी लक्ष्मीमती की बात मानकर तेरे पिता ने पहले ब्रह्म रथ नगर में निकले तथा उसके पीछे मेरा जैन रथ निकले ऐसा स्वीकार कर लिया है। सो यह पवित्र परमपावन, परमोत्कृष्ट जैन धर्म का अपमान मेरे द्वारा सर्वथा असह्य है अतः ऐसे धर्म संकट में मैंने चतुराहार का त्याग कर दिया है।"

माता की बात सुनकर हरिषेण काँप उठा किन्तु "पिता के सामने मैं क्या बोल सकता हूँ। मेरे लिये तो माता और पिता दोनों ही पूज्य हैं।"

ऐसा सोचकर वह माता के रुदन को देखने में असमर्थ हो उसी क्षण घर से बाहर हो देश के ही बाहर चला गया। निर्जन वन में पहुँचकर विक्षिप्तमनः होता हुआ वन के फल खाकर तथा झरने का जल पीकर आगे बढ़ता ही गया। वह यही सोचता जा रहा था कि–

"मैं माता के संकट का कैसे निवारण करूँ ? कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ?"

घूमते-घूमते ऋषियों ने उसका सम्मान किया और ठहरने की व्यवस्था कर दी।

इधर घटना ऐसी थी कि एक कालकल्प नाम का राजा चंपानगरी को चारों

तरफ से घेरकर आक्रमण कर रहा था। चंपानगरी के राजा जनमेजय उसके साथ युद्ध कर रहे थे। इसी बीच माता नागवती अपनी पुत्री को लेकर सुरंग के मार्ग से यहाँ शतमन्यु ऋषि के आश्रम में पहले से ही आकर रह रही थीं। पुत्री मदनावली ने जैसे ही हरिषेण को देखा वह विक्षिप्त हो गई। माता उसकी चेष्टाओं से उसे हरिषेण के प्रति आसक्त जानकर बोली–

"पुत्री! सावधान रह, तू महामुनि के वचन स्मरण कर। महामुनि ने कहा था कि तू चक्रवर्ती का स्त्रीरत्न होगी।"

तापसियों को मालूम हुआ कि यह मदनावली पुत्री हरिषेण की तरफ अनुरक्त हो रही है तो उन्होंने हरिषेण को अपने आश्रम से निकाल दिया। अब हरिषेण को और दो प्रकार के दुःखों ने आ दबोचा। इधर वह माता के दुःख से तो दुःखी था ही, उधर मदनावली कन्या के दुःख से दुःखी हुआ तथा तापसियों द्वारा निकाले जाने का उसे बहुत ही भयंकर दुःख हुआ। वह इधर-उधर भटकता हुआ सिंधुनद नामक नगर में आ गया।

नगर के बाहर उद्यान में बहुत सी स्त्रियाँ वनक्रीड़ा के लिये आई हुई थीं। उसी समय एक मदोन्मत्त हाथी उपद्रव करता हुआ इधर आ गया। स्त्रियाँ घबरा कर हरिषेण के पीछे आ गईं। उस क्षण हरिषेण ने मदोन्मत्त हाथी को अपनी भुजाओं से ही वश में कर लिया और उस पर आरूढ़ हो गया। यह देख वहाँ के राजा सिंधु ने कुमार का बहुत ही सम्मान किया और अपनी सौ पुत्रियों का विवाह कुमार हरिषेण के साथ कर दिया। सर्वत्र शहर में हरिषेण के रूप, गुण और पराक्रम की चर्चा फैल गई।

हरिषेण को उस मदनावली कन्या के बिना सारी सुन्दर-सुन्दर कन्याओं से भी मन में संतोष नहीं था। इस बीच एक वेगवती नाम की विद्याधरी सोते हुए हरिषेण को उठाकर आकाशमार्ग से विजयार्ध पर्वत पर ले गई। वहाँ सूर्योदय नामक नगर के राजा शक्रधन की पुत्री जयचन्द्रा से इनका विवाह हो गया। तब जयचन्द्रा के मामा के पुत्र गंगाधर और महीधर अत्यंत कुपित हुये, इसलिये कि–

"इस कन्या ने हम विद्याधरों को छोड़कर इस भूमिगोचरी को क्यों वरा है ?"

तब हरिषेण ने उनके साथ युद्ध करके उन्हें पराजित कर दिया। उसी समय उसके पुण्योदय से चक्ररत्न प्रगट हो गया, जिससे हरिषेण महान् अभ्युदयशाली दसवाँ चक्रवर्ती प्रसिद्ध हुआ।

चक्ररत्न से चिन्हित चक्रवर्ती हरिषेण बारह योजन लम्बी-चौड़ी सेना चलाता हुआ और शत्रुओं को नम्रीभूत करता हुआ शतमन्यु तपस्वी के आश्रम की तरफ आ गया। जब तापसियों को पता चला कि जिसे हमने आश्रम से निकाल दिया था वह बालक चक्रवर्ती होकर आ रहा है तो वे सब बहुत ही भयभीत हुये, शीघ्र ही हाथों में फल लेकर हरिषेण को अर्घ दिया और आशीर्वादात्मक वचनों से उनका बहुत ही सम्मान किया। ''शतमन्यु के पुत्र जनमेजय और माता नागवती ने सन्तुष्ट होकर मदनावली को चक्रवर्ती को समर्पित कर दिया।''

तदनंतर हरिषेण अपनी चक्रवर्ती की संपदा से युक्त हो कांपिल्य नगर आया। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उसके साथ थे। उसने आकर हाथ जोड़कर बड़ी विनय से माता के चरणों में नमस्कार किया। उस समय अपने पुत्र को पाकर माता वप्रा के हर्ष का समुद्र उद्वेलित हो गया। उसने पुत्र को हृदय से लगाकर उसके मस्तक पर हाथ फेरते हुए बहुत-बहुत आशीर्वाद दिया।

इसके बाद चक्रवर्ती ने सूर्य के समान बड़े-बड़े रथों में जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा विराजमान करके कांपिल्य नगर में उन रथों को घुमाया और अपनी माता के मनोरथ को पूर्ण किया। उस शहर में ही नहीं, सारे देश में जैनधर्म की इतनी विशेष प्रभावना हुई कि जिसका वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता है। इस धर्मप्रभावना से मुनियों और श्रावकों को अति हर्ष हुआ तथा अन्य जैनेतर बहुत से लोगों ने जैन धर्म ग्रहण कर लिया।

इसके पश्चात् चक्रवर्ती ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार पृथ्वी पर, पर्वतों पर, सिद्ध नदियों के समागम स्थान पर, नगर-नगर में तथा गाँव-गाँव में नाना रंग के ऊँचे-ऊँचे अगणित जिनमंदिर बनवाये और उनमें रत्नों की जिनप्रतिमायें प्रतिष्ठित करवाईं। उदारमना हरिषेण ने चिरकाल तक चक्रवर्ती का साम्राज्य

भोगकर पुनः जैनेश्वरी दीक्षा लेकर तपश्चरण किया और उसके फलस्वरूप तीन लोक के शिखर को प्राप्त कर लिया है।

सुमाली कहते हैं–

"हे दशानन! पर्वत की चोटियों पर बने हुये ये रंग-बिरंगे जिनेन्द्र भवन उन्हीं चक्रवर्ती के बनवाए हुए हैं, जो कि तुम्हें कमल के समान दिख रहे हैं।" दशानन ने हरिषेण का चरित्र सुनकर बहुत ही आश्चर्य व्यक्त किया और हर्ष से विभोर हो उन जिनमंदिरों की पुनः-पुनः वंदना करके आगे बढ़ गया।

इस प्रकार ये जिनमंदिर निर्माण, जिन पूजा अनुष्ठान, तपश्चरण और विद्या के अतिशय आदि सब मार्ग मोक्षमार्ग की, जैनधर्म की प्रभावना करने वाले हैं। इनसे अपनी ही नहीं, देखने, सुनने वालों की, सभी की आत्मा पवित्र होती है तथा विश्व में सुख, शांति, यश और लक्ष्मी की वृद्धि होती है।

यह मार्गप्रभावना भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध कराने वाली है।

प्रवचनवत्सलत्व भावना

वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्।।16।।

जैसे गाय अपने बछड़े में अकृत्रिम स्नेह करती है वैसे ही धर्मात्माओं को देखकर उनके प्रति स्नेह से आर्द्रचित्त का हो जाना प्रवचनवत्सलत्व है। जो सहधर्मियों में स्नेह है वही प्रवचन स्नेह है।

यहाँ प्रवचन शब्द में चतुर्विध संघ आ जाता है – मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। विष्णुकुमार मुनि का धर्मवात्सल्य प्रसिद्ध ही है। वह आज तक रक्षाबंधन पर्व से उनकी स्मृति ताजी करता रहता है।

श्री रामचंद्र जी सीता और लक्ष्मण के साथ वंशस्थद्युति नगर में पहुँचे। देखते हैं प्रजा के लोग नगर से निकल-निकल कर कहीं जा रहे हैं, पूछने पर मालूम हुआ कि सामने के इस वंशधर पर्वत पर तीन दिन से रात्रि में इतना भयंकर शब्द होता है कि लोगों के कान के पर्दे फट जाते हैं अतः हम लोग सहन करने में असमर्थ हो सायं को यहाँ से अन्यत्र भाग जाते हैं, पुनः प्रातः वापस आ जाते हैं। ऐसा सुनकर श्रीरामचंद्र ने यह निर्णय किया कि रात्रि में वहाँ रहकर अपने को देखना है कि क्या बात है ? और यहाँ की त्रस्त प्रजा को निर्भय करना है। सीता ने कहा स्वामिन्! जहाँ ये लोग जा रहे हैं अपन भी चले, प्रातः आ जायेंगे। रामचन्द्र ने हँसकर कहा 'तुम्हें यदि भय लग रहा है तो तुम इन लोगों से साथ चली जावो, प्रातः हमें ढूँढते हुये यहीं आकर मिल लेना।' पुनः सीता के साथ वे दोनों उस पर्वत पर चढ़ गये। देखते हैं कि वहाँ पर दो मुनिराज उत्तम ध्यान में आरूढ़ हैं। उनके ऊपर अनेकों साँप-बिच्छुओं का उपसर्ग हो रहा है। निर्भय होकर श्रीराम ने उन जन्तुओं को दूर किया। अतीव भक्ति से गद्गद होकर उनकी स्तुति करने लगे –

'भक्ति से भरी सीता ने निर्झर के जल से देर तक उन मुनियों के चरण

---

1. अथोद्वर्त्य चिरं पादौ तयोर्निर्झरवारिणा।
गंधेन सीतया लिप्तौ चारुणा पुरुभावया।।44।।
आसन्नानां च वल्लीनां कुसुमैर्वनसौरभैः।
लक्ष्मीधरार्पितैः शुक्लैः पूरितान्तरमर्चितौ।।45।। (पद्मपुराण, पर्व 39)

धोकर मनोहर गन्ध से लिप्त किये। अनंतर लक्ष्मण के द्वारा तोड़ कर दिये गये निकटवर्ती लताओं के सुगंधित पुष्पों से उनके चरणों की खूब पूजा की।' अनंतर इन लोगों ने वीणा बजाकर नृत्य करते हुये खूब गुरु भक्ति की। जब रात्रि सघन हुई तब भयंकर विकराल शब्द होना शुरू हो गया, भूतों के झुण्ड के झुण्ड वहाँ नाचने लगे और मुनियों पर घोर उपसर्ग प्रारंभ हो गया तब श्रीराम ने सीता को दोनों मुनियों के निकट बैठाया और लक्ष्मण सहित उन राक्षसों के साथ युद्ध करने को तैयार हो गये। इन दोनों के वज्र सदृश बाणों से और उनकी भयंकर टंकार से अग्निप्रभ देव घबरा गया 'ये बलभद्र और नारायण हैं' ऐसा समझकर वह वहाँ से भाग गया तब तत्क्षण विक्रियाकृत सारी भयंकर चेष्टायें समाप्त हो गयीं। उसी समय उपसर्ग दूर होते ही उन युगल मुनियों को केवलज्ञान प्रगट हो गया। हर्ष से भरे चतुर्निकाय देवगण वहाँ आ पहुँचे, गंधकुटी की रचना बन गई। कहने का मतलब यही है कि श्रीरामचन्द्र का धर्मात्मा के प्रति वत्सल भाव क्या था? उसका यह एक उदाहरण है और भी उन्होंने वज्रदन्त राजा की सिंहोदर राजा से रक्षा की थी, आदि अनेकों उदाहरण प्रसिद्ध हैं।

मिथिला नगरी के बाहर उद्यान में श्री श्रुतसागर मुनि रात्रि के समय ध्यान में स्थित हैं। अर्ध रात्रि के अनंतर वे ध्यान को विसर्जित कर आकाश की ओर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं ''श्रवण नक्षत्र कंपायमान हो रहा है'' नक्षत्र कंपते हुये देखकर अपने निमित्तज्ञान से विचारते हैं और सहसा बोल पड़ते हैं–

हाय-हाय ?

पास में ही पुष्पदंत नाम के क्षुल्लक जी बैठे हुये थे वे गुरु के मुख से सहसा हाय-हाय शब्द सुनकर घबरा कर पूछते हैं–

''भगवन् क्या हुआ, क्या हुआ ?''

श्रुतसागर सूरि कहते हैं–

''मुनियों पर बहुत बड़ा उपसर्ग हो रहा है।''

क्षुल्लक जी पूछते हैं–

''प्रभु यह उपसर्ग कहाँ हो रहा है ?''

सूरि कहते हैं–

"हस्तिनापुर में सात सौ मुनियों का संघ ठहरा हुआ है। उस संघ के नायक श्री अकंपनाचार्य महामुनि हैं। उस सारे संघ पर पापी बलि के द्वारा यह उपसर्ग किया जा रहा है।"

क्षुल्लक जी पूछते हैं–

"प्रभु ऐसा क्या उपाय है कि जिससे यह उपसर्ग दूर हो ?"

सूरि कहते हैं–

"हाँ, एक उपाय है। विष्णु कुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गई है। वे अपनी ऋद्धि के बल से इस उपसर्ग का निवारण कर सकते हैं।"

क्षुल्लक जी पुनः पूछते हैं–

"भगवन्! वे मुनि इस समय कहाँ पर विराजमान हैं ?"

सूरि कहते हैं–

"वे उज्जयिनी नगरी के बाहर एक गुफा में स्थित हैं।"

तब पुनः क्षुल्लक जी विनय से प्रार्थना करते हैं–

"प्रभो! मुझे जाने की आज्ञा दीजिये।"

गुरु की आज्ञा पाकर पुष्पदन्त क्षुल्लक जी तत्क्षण ही अपनी आकाशगामी विद्या के बल से मुनि विष्णु कुमार के चरण सान्निध्य में पहुँचकर नमोस्तु करते हैं और श्री श्रुतसागर सूरि कथित सारा समाचार सुना देते हैं। तब विष्णुकुमार मुनि आश्चर्य से सोचते हैं–

"अहो! क्या मुझे विक्रिया ऋद्धि हो चुकी है ?"

इतना सोचकर तत्क्षण ही परीक्षा के लिये अपना हाथ पसारते हैं तो हाथ गुफा के बाहर निकल कर अनेक पर्वत आदि को भेदन करता हुआ बहुत दूर तक चला जाता है। विष्णुकुमार मुनि उसी क्षण विक्रिया ऋद्धि के बल से आकाशमार्ग से वहाँ चलकर शीघ्र ही हस्तिनापुर आ जाते हैं और अपने बड़े भाई राजा पद्म के महल में पहुँच जाते हैं। मुनि विष्णुकुमार को आते हुये देखकर सहसा राजा पद्म उठकर सामने साष्टांग नमस्कार करते हैं पुनः उच्चासन पर विराजमान करते हैं। विष्णुकुमार मुनि कहते हैं–

'हे भाई! तुम किस नींद में सो रहे हो; तुम्हें पता है क्या, कि शहर में कितना भारी अनर्थ हो रहा है ? अरे! अपने राज्य में तुमने ऐसा अनर्थ क्यों

होने दिया ? क्या पहले अपने कुल में किसी ने आज तक ऐसा मुनि घातक घोर पाप किया है ? हाय-हाय! धर्म के अवतार परम शांत ऐसे इन मुनियों पर ऐसा अत्याचार! और वह तुम सरीखे धर्मात्माओं के राज्य में! बड़े खेद की बात है भाई! राजाओं का धर्म तो यही है कि सज्जनों, धर्मात्माओं की रक्षा करना और दुष्टों को दण्ड देना। पर तुमने इससे बिल्कुल उल्टा कर रखा है। समझते हो साधुओं को सताना ठीक नहीं, देखो! जल का स्वभाव ठण्डा है फिर भी वह जब अति गरम हो जाता है तब शरीर को जला देता है इसलिये जब तक तुम पर कोई आपत्ति न आ जावे उसके पहले ही इस उपसर्ग को शांत करवा दीजिये।''

अपने पूज्य भ्राता श्री विष्णुकुमार मुनि का उपदेश सुनकर, राजा पद्म हाथ जोड़कर कहते हैं– भगवन्! मैं क्या करूँ ? मुझे क्या मालूम था कि ये पापी लोग मिलकर मुझे ऐसा धोखा देंगे। अब तो मैं बिल्कुल विवश हूँ। मैं कुछ भी नहीं कर सकता क्योंकि मैं वचनबद्ध हो चुका हूँ और सात दिन तक के लिये अपना राज्य दे चुका हूँ।

हे महामुने! अब तो आप ही इस कार्य में समर्थ हैं। आप ही किसी उपाय द्वारा मुनियों का उपसर्ग दूर कीजिये। इसमें आपके लिये मेरा कुछ कहना तो सूर्य को दीपक दिखाने के समान है, अब आप शीघ्र ही कुछ उपाय कीजिये।

इतना सुनकर विष्णुकुमार मुनि विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से वामन का अवतार ऐसा ब्राह्मण का वेष बनाते हैं। कन्धे पर जनेऊ लटकाकर, बगल में वेद-शास्त्रों को दबाकर बड़ी मधुरता से वेद की ऋचाओं का उच्चारण करते हुए वहाँ यज्ञ मण्डप में पहुँच जाते हैं। यज्ञ के सभामण्डप में वामन ब्राह्मण को आते देख बलि आदि मंत्री आगे बढ़कर उनका सम्मान करते हुए बहुत ही प्रसन्न हो जाते हैं।

बलि राजा मंत्री तो उन पर इतना प्रसन्न हो जाता है कि वह आनंद विभोर हो जाता है पुनः गद्गद वाणी में कहता है–

''महाराज! आपने यहाँ पधारकर मेरे यज्ञ की अपूर्व शोभा कर दी है, मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ अतः आपकी जो इच्छा हो सो माँगिए। इस समय मैं सब कुछ देने में समर्थ हूँ।'' वामन विष्णु कहते हैं–

मैं एक गरीब ब्राह्मण हूँ। मुझे अपनी स्थिति में ही सन्तोष है। मुझे धन-दौलत की कुछ आवश्यकता नहीं है पर आपका जब इतना आग्रह है तो मैं आपको इतना असंतुष्ट करना भी नहीं चाहता। मुझे केवल तीन पग पृथ्वी की आवश्यकता है। यदि आप इतनी भूमि मुझे दे देंगे तो मैं उसी में अपनी झोपड़ी बनाकर रह जाऊँगा और निराकुलता से वेदाध्ययन आदि करता रहूँगा। बस इसके सिवाय मुझे और कुछ नहीं चाहिये।''

कृपानाथ! आपको थोड़े में संतोष था सो ठीक, फिर भी आपका तो यह कर्त्तव्य था कि आप बहुत कुछ माँगकर अपने जातीय भाइयों का उपकार कर देते। भला इसमें क्या बिगड़ जाता ?

बलि महाराज भी उन्हें खूब समझाते हैं और पुनः-पुनः कहते हैं–

हे वामनावतार! हे भूदेव! आप और अधिक माँगिए। अहो! मेरे कोश में इस समय अतुल रत्न राशि भरी हुई है, कम से कम हमारे वैभव के अनुरूप तो आपको माँगना ही चाहिये किन्तु वामन महाराज पूर्ण रूप से अन्य कुछ माँगने की अपनी अनिच्छा ही रखते हैं और कहते हैं–

''राजन्! यदि देना हो तो दो अन्यथा मैं अन्यत्र चला जाऊँगा क्योंकि मुझे तो मात्र तीन पग धरती ही चाहिये।''

तब बलि कहता है–

''हे पूज्य! आप मुझे बहुत शर्मिन्दा कर रहे हैं। आपकी इस तुच्छ याचना से मुझे बहुत ही असंतोष है। फिर भी आप यदि आगे कुछ नहीं माँगना चाहते तो ठीक है जैसी आपकी इच्छा। अच्छा तो आप स्वयं अपने ही पैरों से पृथ्वी नाप लीजिए।''

इतना कहकर बलि महाराज जल की भरी स्वर्ण झारी उठाकर दान का संकल्प करते हुए वामन विष्णु के हाथ पर जलधारा डाल देते हैं और संकल्प होते ही वामन वेषधारी विष्णुकुमार पृथ्वी को मापने के लिये अपना पहला पाँव उठाकर सुमेरु पर्वत पर रखते हैं और दूसरा पैर उठाकर मानुषोत्तर पर्वत पर रखते हैं। पुनः तीसरा पैर उठाते हैं और उन्हें आगे बढ़ने को कहीं जगह ही नहीं दिखती है कि उसे वे कहाँ रखें, तब वह तीसरा पाँव आकाश में उठा ही रह जाता है।

उनके इस प्रभाव से सारी पृथ्वी काँप उठती है, सभी पर्वत चलायमान हो जाते हैं, सभी समुद्र मर्यादा तोड़ देते हैं और उनका जल उद्वेलित होकर बाहर बहने लगता है। देवों के विमान एक से एक टकराने लगते हैं और देवगण सहसा आश्चर्य से चकित हो जाते हैं। पुनः तत्क्षण ही देवगण अपने अवधिज्ञान से सारा समाचार ज्ञात कर वहाँ आकर दैत्यकर्मा बलिराज को बाँधकर मुनि विष्णुकुमार से कहते हैं–

प्रभो! क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये!!.....

चारों तरफ से आकाश में उपस्थित देवगण एक साथ शब्दों का उच्चारण करते हुए आकाश को मुखरित कर रहे हैं–

जय हो, जय हो, जय हो!! महामुनि अकम्पनाचार्य की जय हो, सर्व दिगम्बर मुनियों की जय हो, जैनधर्म की जय हो, महासाधु विष्णुकुमार की जय हो, हे धर्मवत्सल! हे धर्मवत्सल! हे दया सिन्धु! हे धर्म अवतार! क्षमा करो, क्षमा करो, क्षमा करो! दया करो, दया करो, दया करो! हे नाथ! हम सबकी रक्षा करो,अब आप अपनी विक्रिया समेटो, हे देव! अब आप अपना पैर संकुचित करो।''

यह सब दृश्य देखकर अतीव भयभीत हुआ और कांपता हुआ बलि मुनिराज के चरणों में गिर पड़ता है और गिड़गिड़ाता हुआ कहता है–

''हे कृपानाथ! मुझे क्षमा कर दीजिये, मैं महापापी हूँ, मैं महापापी हूँ, फिर भी अब आपकी शरणागत हूँ, अब आप मेरी रक्षा कीजिये, मेरे ऊपर दया कीजिये, क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये।

इस मध्य बलि के साथी बृहस्पति, प्रहलाद और नमुचि ये तीनों मंत्री भी आकर मुनि के चरणों में साष्टांग पड़कर क्षमायाचना करते हैं और पश्चाताप करते हुए अश्रु गिराने लगते हैं। वामन वेषधारी विष्णुकुमार तत्क्षण ही अपनी विक्रिया समेट लेते हैं और मुनि अवस्था में वहाँ खड़े हो जाते हैं। उसी समय देवगण आकर सभी मुनियों के ऊपर हो रहे सारे उपसर्ग को दूर कर देते हैं। यज्ञमण्डप और अग्नि को हटा देते हैं। जो बेचारे निरपराध पशु हवन की आहुति के लिये वहाँ बाँधे गये थे उन्हें छोड़ देते हैं और सभी को अभयदान की घोषणा कर देते हैं।

उसी क्षण राजा पद्म अपने महल से निकलकर वहाँ आ जाते हैं और विष्णुकुमार मुनि के चरणों से लिपट जाते हैं। सात सौ मुनियों के ऊपर हो रहे इस भयंकर अग्निकांड उपद्रव को दूर हुआ देख हर्षाश्रु से मुनि विष्णुकुमार जी के चरणों का मानो प्रक्षालन ही कर रहे हैं। सर्वत्र प्रजा में शांति की लहर दौड़ जाती है। एक साथ सारी प्रजा वहाँ दौड़ आती है और गुरुओं की वंदना और वैयावृत्ति में लग जाती है।

उसी क्षण राजा और चारों मंत्री बड़ी भक्ति से संघ के नायक अकम्पनाचार्य की वंदना करने को वहाँ पहुँच जाते हैं और उनके चरणों में साष्टांग पड़कर नमस्कार करते हुए कहते हैं–

''हे भगवन्! हे कृपासिन्धु! नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु!''

पुनः बलि आदि मंत्री नेत्रों से अश्रु झराते हुए लड़खड़ाती हुई वाणी में कहते हैं–

''हे भक्तजनवत्सल! हे करुणा के सागर! हे परम क्षमाशील! हे गुरुदेव! हम पापियों के इस महान् अपराध को क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये।'

पुनः वे चारों मंत्री गुरुदेव से निवेदन करते हैं–

''हे नाथ! अब हमें आप विश्व हितकारी, परमोपकारी, अहिंसामयी इस जैनधर्म को ग्रहण कराइये।''

इतनी प्रार्थना को सुनकर करुणासागर श्री अकम्पनाचार्य गुरुवर्य उन पर दया करके उन्हें सान्त्वना देते हैं, पुनः मिथ्यात्व का त्याग कराकर उन चारों को सम्यक्त्व तथा अणुव्रत देकर उन्हें दुर्जन से सज्जन बना देते हैं।

सभी देवगण प्रसन्न होकर बहुत ही भक्तिभाव से अष्टद्रव्य आदि उत्तम सामग्री लेकर श्री विष्णुकुमार मुनि के चरणों की पूजा करते हैं। वे देवगण देवमयी तीन वीणाएँ लाकर उन्हें बजाकर खूब भक्ति पूजा करते हैं पुनः तीनों वीणाओं को यहीं मध्यलोक में दे जाते हैं। जिनके द्वारा भक्त लोग सदा ही उन गुरुओं का गुणानुवाद गाकर पुण्य सम्पादन करते रहें।

देवों के द्वारा पूजा विधि सम्पन्न हो जाने के बाद राजा पद्म और हस्तिनापुर शहर के समस्त भक्तगण भक्ति में विभोर होकर नाना प्रकार से श्री विष्णुकुमार के चरणों की, आचार्य अकम्पन गुरू व सात सौ मुनियों की पूजा

भक्ति करके, जय-जयकार के नारे से आकाश को गुंजायमान कर देते हैं, पुनः सभी श्रावक-श्राविकाएँ विचार करते हैं।

अहो! उपसर्ग विजयी इन मुनियों को अग्नि की आँच व धुएँ से बहुत क्लेश हुआ है। इनके कंठ रुंध गये हैं और शरीर में भी वेदना हो रही है। अब इन्हें ऐसा आहार देना चाहिये कि जिससे जले हुए पीड़ायुक्त कंठ से ये सहज में आहार ग्रहण कर सकें।''

तभी सब श्रावक सेमई की खीर ही उपयुक्त आहार समझकर घर-घर में वैसा मृदु आहार तैयार कर-करके आहार की बेला में अपने घर के दरवाजे पर मुनियों के पड़गाहन की प्रतीक्षा में खड़े हो जाते हैं। सभी मुनि अपनी-अपनी नियम सल्लेखना को विसर्जित कर आचार्यश्री की आज्ञा से आचार्यश्री के साथ शरीर को संयम का साधन मानकर उसकी रक्षा हेतु चर्या के लिये निकलते हैं। श्रावक आनंद विभोर हो पड़गाहन करना शुरू कर देते हैं–

''हे भगवन्! नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु, अत्र तिष्ठ तिष्ठ-हे गुरुदेव! आपको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। यहाँ ठहरो, अन्न-जल शुद्ध है।''

जिन-जिन श्रावकों को एक-दो आदि मुनियों का लाभ मिल जाता है वे अपने को धन्य मान लेते हैं और विधिवत् नवधा भक्ति करके उन्हें मृदु और सरस सेमई की खीर का आहार देकर अतिशय पुण्य संपादन कर लेते हैं। जिन श्रावकों को कोई उत्तम पात्र नहीं मिल पाता है, वे उस दिन पात्रदान की उत्कृष्ट भावना से अन्य व्रती श्रावकों को भोजन कराकर आहारदान की भावना भाते हुए अपने जीवन को सफल करते हैं।

जिस दिन इन सात सौ मुनियों की रक्षा हुई थी, वह दिन श्रावण शुक्ला पूर्णिमा का था। तभी से आज तक सभी श्रावकगण इस दिन को रक्षाबंधन के नाम से मनाते चले आ रहे हैं। इतना ही नहीं समस्त भारतवर्ष में सभी सम्प्रदाय के जैनेतर लोग भी किसी न किसी रूप में इस पर्व को मनाते हैं। यह पर्व सामाजिक पर्व के रूप में मनाया जाता है। आज के दिन श्रावकगण तो मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं के चरण सान्निध्य में पहुँचकर उनके मुख से मुनि श्री विष्णुकुमार की कथा सुनकर पुनः मुनि आदि पात्रों को खीर का आहारदान देते हैं। जहाँ कहीं मुनि, आर्यिकाओं के चातुर्मास नहीं हैं वहाँ

के श्रावक अन्यत्र कहीं गुरुओं के निकट पहुँचकर आहारदान का लाभ लेते हैं और मुनियों को आहारदान देते समय पूर्व मुनियों की स्मृति कर वर्तमान मुनियों में उनकी स्थापना निक्षेप कर उन्हें आहार देकर अपने को पुण्यशाली समझ लेते हैं तथा तदनुरूप विशेष पुण्य का संचय भी कर लेते हैं।

यह पर्व वात्सल्य की पवित्रता का द्योतक होने से प्रायः सर्वत्र समाज में बहन-भाई के पवित्र स्नेह के रूप में भी मनाया जाता है। बहन-भाई को मिष्ठान्न आदि का भोजन करा के उनके हाथ में रक्षाबंधन का सूत्र बांधती हैं। उस रक्षा सूत्र को राखी भी कहते हैं। इस प्रकार धर्मात्माओं के प्रति परम धर्म के अवतार श्री विष्णुकुमार ने वात्सल्य भाव को करके जो धर्मात्माओं की रक्षा की है, उसी की स्मृति में इस पर्व को मनाने की पूर्ण सार्थकता है क्योंकि ''न धर्मो धार्मिकैर्बिना'' अर्थात् धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं रहता है।

अनंतर विष्णुकुमार मुनि अपने गुरू के पास जाकर विक्रिया से जो वामन वेष बनाया था उसका प्रायश्चित ग्रहण कर घोरातिघोर तपश्चरण कर उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। वे महामुनि विष्णुकुमार तथा अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनि हम सबकी रक्षा करें।

विशेष–

सुमेरु पर्वत जम्बूद्वीप के बीचों-बीच में है। मानुषोत्तर पर्वत पुष्कर द्वीप के मध्य है, चूड़ी के आकार का है। इस मानुषोत्तर पर्वत तक ही मनुष्यलोक की सीमा है। इसके आगे चारणऋद्धिधारी या विक्रियाऋद्धिधारी मुनि तथा विद्याधर मनुष्य नहीं जा सकते हैं इसीलिए श्री विष्णुकुमार मुनि ने विक्रिया से दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रख कर सारा मनुष्यलोक नाप लिया था।

इसी प्रकार जो भी साधु या श्रावक धर्मात्माओं को देखकर स्नेह भाव से ओत-प्रोत हो जाते हैं वे ही समय आने पर इस प्रवचनवत्सल भावना को पाल सकते हैं। यह भावना भी तीर्थंकर प्रकृतिबंध के लिए एक अद्वितीय कारण है।

तीर्थंकर प्रकृति के बंध करने वाले कर्मभूमिज मनुष्य ही होते हैं। यदि वे सम्यक्त्व के पूर्व तिर्यंचायु या मनुष्यायु का बंध कर चुके हैं तो इसका बंध नहीं कर सकते। कदाचित् नरकायु के बंध जाने पर भी इसका बंध कर सकते

हैं। जैसे कि राजा श्रेणिक ने बंध किया है। केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही यह प्रकृति बंधती है। यथा – 'प्रथमोपशम सम्यक्त्व में या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में स्थित हुये जीव असंयत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती, महाव्रती अथवा अप्रमत्तमुनि हों, कर्मभूमिज मनुष्य केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ करते हैं।[1] इस तीर्थंकर प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में ही होता है। तब वे अपनी दिव्यदेशना से असंख्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं।

नोट – इन सोलहकारण भावनाओं के नाम तत्त्वार्थसूत्र के आधार से हैं। षट्खंडागम ग्रंथ में इन भावनाओं के नाम में कुछ अंतर है।

1. गोम्मटसार कर्मकाण्ड।

सोलहकारण भावनाएं

(षट्खंडागमसूत्र के आधार से)

''दर्शनविशुद्धता, विनयसंपन्नता, शील व्रतों में निरतिचारता, छह आवश्यकों में अपरिहीनता, क्षण लव प्रतिबोधनता, लब्धिसंवेगसंपन्नता, यथाशक्ति तथा तप, साधुओं के लिए प्रासुक परित्यागता, साधुओं की समाधि संधारण, साधुओं की वैयावृत्ययोगयुक्तता, अरहंत भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति, प्रवचनवत्सलता, प्रवचन प्रभावनता और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगयुक्तता, इन सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म को बांधते हैं।[1]'' तीर्थंकर प्रकृति का चूँकि उच्च गोत्र के साथ अविनाभाव पाया जाता है इसीलिए उसे यहाँ 'गोत्र' नाम से कहा गया है।

(1) दर्शन से यहाँ अभिप्राय सम्यग्दर्शन का है। तीन मूढ़ता, आठ शंकादि दोष, छह अनायतन और आठ मद इन पच्चीस दोषों से रहित निर्मल सम्यग्दर्शन का नाम दर्शनविशुद्धता है।

(2) विनय के तीन भेद हैं– ज्ञान विनय, दर्शन विनय और चारित्र विनय। ज्ञान के विषय में उपयोगयुक्त रहना, उपाध्याय, श्रुत आदि की भक्ति करना ज्ञान विनय है। निर्दोष सम्यक्त्व बनाना दर्शन विनय है। निर्दोष शील-व्रतों को पालते हुए आवश्यकों में दोष न लगाना चारित्र विनय है। इन तीनों विनय की परिपूर्णता ही विनयसम्पन्नता है।

(3) हिंसा आदि पाँचों पापों के त्याग को व्रत और उनके रक्षण को शील कहा जाता है। मद्यपान आदि करने एवं कषायादि के त्याग न करने को अतिचार कहते हैं। अतिचारों से रहित शील और व्रतों का पालन करना शीलव्रतेषु अनतिचारता है।

(4) समता, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग ये छह आवश्यक हैं। शत्रु-मित्र आदि इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष का परित्याग समता है। त्रैकालिक पाँच परमेष्ठियों में भेद न करके ''णमो अरिहंताणं, णमो जिणाणं'' आदि उच्चारणपूर्वक नमस्कार करना स्तव है। ऋषभ आदि तीर्थंकर,

---

1. षट्खण्डागम, पुस्तक 8, सूत्र 41, पृ. 79

भरत आदि केवली, आचार्य तथा चैत्यालय आदि में भेद करके उनके गुण स्मरणपूर्वक नमस्कार करना वंदना है। चौरासी लाख उत्तर गुणों से सहित महाव्रतों में उत्पन्न हुए मल को धोने का नाम प्रतिक्रमण है। महाव्रतों में मलोत्पादन के कारण जिस प्रकार न होंगे ऐसा मैं करता हूँ ऐसी मन से आलोचना करके चौरासी लाख व्रतों की शुद्धि को ग्रहण करना प्रत्याख्यान है। एकाग्रतापूर्वक ध्येय वस्तु की ओर मन को रोकना व्युत्सर्ग है। इन छह आवश्यकों की अखंडता अर्थात् परिपूर्णता का नाम आवश्यक अपरिहीनता है।

(5) क्षण और लव ये काल विशेष के नाम हैं। सम्यक्त्व व्रतादि को उज्ज्वल करने, मल को धोने अथवा जलाने का नाम प्रतिबोधन है। प्रत्येक क्षण में व लव में होने वाले प्रतिबोध को क्षण लव प्रतिबोधनता कहते हैं।

(6) रत्नत्रय काल लब्धि है। उसमें हर्ष होना संवेग है। इस लब्धि संवेग की पूर्णता का नाम लब्धि संवेग सम्पन्नता है।

(7) थाम का अर्थ बल-वीर्य है। अपनी शक्ति के अनुसार बाह्य और अभ्यंतर तप करना यथा नाम तथा तप अर्थात् शक्तितस्तप है।

(8) अनंत ज्ञानादि, क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणों के साधक साधु हैं। ज्ञान, दर्शन आदि निरवद्य निर्दोष होने से प्रासुक कहलाते हैं। साधुओं के द्वारा दयापूर्वक जो दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि का त्याग या दान है वह 'प्रासुक परित्यागता'' है। यह कारण गृहस्थों में सम्भव नहीं है क्योंकि उनमें चारित्र का अभाव है। रत्नत्रय का उपदेश भी गृहस्थों में सम्भव नहीं है क्योंकि दृष्टिवाद आदि उपरिम श्रुत का उपदेश देने का उनको अधिकार नहीं है अतएव यह कारण महर्षियों के ही होता है।

(9) रत्नत्रय में सम्यक् अवस्थान का नाम समाधि है। उसको सम्यक् प्रकार से धारण या सिद्ध करना समाधि संधारणता है।

(10) रोगादि से व्याकुल साधु के विषय में जो उपचार आदि किया जाय वह वैयावृत्य है। जो जीव सम्यक्त्वादि और अर्हंत भक्ति आदि से वैयावृत्य में प्रवृत्त होता है उससे वैयावृत्ययोगयुक्तता होती है।

(11) जो घातिया कर्म या आठों कर्मों को नष्ट कर चुके हैं, वे अरिहंत हैं। उनके गुण में अनुराग करना, उनके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान के अनुकूल

प्रवृत्ति करना या उक्त अनुष्ठान का स्पर्श करना अरिहंत भक्ति है।

(12) द्वादशांग के पारगामी बहुश्रुत होते हैं। उनकी भक्ति करना, उनके द्वारा उपदिष्ट आगम अर्थ के अनुकूल प्रवृत्ति करना बहुश्रुत भक्ति है।

(13) सिद्धांत या बारह अंगों का नाम प्रवचन है। श्रेष्ठ वचन सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि रूप वाणी प्रवचन है। उसकी भक्ति करना प्रवचन भक्ति है।

(14) सिद्धांत या बारह अंग का नाम प्रवचन है। इसमें होने वाले देशव्रती, महाव्रती और असंयत सम्यग्दृष्टि भी प्रवचन कहे जाते हैं। इनमें जो अनुराग, आकांक्षा अथवा ''ममेदं'' ये मेरे हैं ऐसी बुद्धि होना प्रवचनवत्सलता है।

(15) आगमार्थ का नाम प्रवचन है। उसकी कीर्ति को विस्तृत करना या वृद्धिंगत करना वह प्रवचन प्रभावना कहलाती है।

(16) अभीक्ष्ण-अभीक्ष्ण का अर्थ बहुत बार या बार-बार है। ज्ञानोपयोग से भाव श्रुत अथवा द्रव्य श्रुत लिया जाता है। दोनों प्रकार के श्रुत में बार-बार उपयोग लगाते रहना अभीक्ष्ण-अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग युक्तता है। इन सोलह कारणों के होने पर जीव तीर्थंकर नामकर्म को बाँधते हैं अथवा सम्यग्दर्शन के होने पर शेष कारणों में से एक-दो आदि कारणों के संयोग से तीर्थंकर नाम कर्म बँधता है। ''जिन जीवों के तीर्थंकर नाम-गोत्र का उदय होता है। वे उसके उदय से देव, असुर और मनुष्य लोक के अर्चनीय, पूज्नीय, वंदनीय, नमस्करणीय, नेता, धर्मतीर्थ के कर्ता जिन व केवली होते हैं।''

सोलह कारण व्रत विधि

भादों वदी एकम् से आश्विन वदी एकम तक, माघ वदी एकम से फाल्गुन वदी एकम् तक और चैत्र वदी 1 से वैशाख वदी 1 तक ऐसे वर्ष में तीन बार एक महीने तक यह व्रत किया जाता है। उत्कृष्ट विधि तो एक महीने के उपवास की है, मध्यम विधि में एक उपवास, एक पारणा के प्रकार से अथवा बेला, तेला आदि करते हुए बहुत से भेद हो जाते हैं। जघन्य विधि में शुद्ध एकाशन करना चाहिये। 'व्रत तिथि निर्णय' पुस्तक में तीनों प्रतिपदा को उपवास करना ऐसा कहा हुआ है। इस व्रत में प्रतिदिन अभिषेक, पूजन और सोलहकारण भावना की जाप्य करना चाहिये। प्रतिदिन सोलह भावनाओं का चिंतवन करना चाहिए। यह व्रत उत्कृष्ट 16 वर्ष, मध्यम 5 या 2 वर्ष और जघन्य 1 वर्ष करना चाहिये। पुनः यथाशक्ति उद्यापन करना चाहिए।

इस व्रत की कथा

राजगृही नगरी में राजा हेमप्रभ के यहाँ महाशर्मा नाम का नौकर था। उसकी पुत्री कालभैरवी अत्यंत कुरूप और कुलक्षणी थी। एक दिन मतिसागर नामक चारणऋद्धिधारी के उपदेश को सुनकर महाशर्मा ने पूछा – भगवन्! मेरी पुत्री कुरूपा क्यों है ? गुरु ने कहा – पूर्व जन्म में यह उज्जैन की अतिशय सुन्दरी राजपुत्री थी। रूप के मद में आकर एक ज्ञानसूर्य नामक दिगम्बर जैन मुनि के ऊपर इसने थूक दिया। राजपुरोहित ने क्रोधित होकर कन्या को फटकारा तथा मुनिराज के शरीर का प्रक्षालन कर उसकी वैय्यावृत्ति की। इससे कन्या ने लज्जित होकर गुरु के पास जाकर पश्चाताप करते हुये अपराध की क्षमा माँगी, पुनः धर्मोपदेश सुनकर यथाशक्ति कुछ धारण किया। इस निमित्त से कुछ पुण्य प्राप्त कर तुम्हारे यहाँ कन्या हुई है। मुनि उपसर्ग के पाप से ही यह कुरूपा हुई है क्योंकि गुरु की आसादना का फल बिना भोगे नहीं छूटता है। यह सब सुनकर उपशांत भाव को प्राप्त हो कन्या ने संसार दुःख से छूटने के लिए मुनिराज से उपाय पूछा। मुनिराज ने सम्यक्त्व, अणुव्रत आदि का उपदेश देकर उसे सोलह कारण का व्रत दिया। कालभैरवी ने विधिवत् व्रत का पालन करके समाधि से मरण करके सोलहवें स्वर्ग में देवपद प्राप्त किया।

वहाँ से चयकर विदेह क्षेत्र में गंधर्वनगर में सीमंधर तीर्थंकर हो गया, तीर्थंकर पद को प्राप्त कर असंख्यों भव्य जीवों को संबोधकर निर्वाण पद को प्राप्त कर लिया। इस कथा को पढ़कर सभी स्त्री पुरुषों को सोलहकारण व्रत का अनुष्ठान करना चाहिये। इस व्रत की निम्नलिखित जाप्य हैं उन्हें प्रतिदिन करना चाहिये। कहीं-कहीं एक जाप्य को दो दिन करते हैं अतः भादों वदी एकम से कुंवार वदी दूज तक 32 दिन में ये 16 जाप्य पूरी हो जाती हैं।

1. ॐ ह्रीं अर्हं दर्शनविशुद्धि भावनायै नमः।
2. ॐ ह्रीं अर्हं विनयसम्पन्नता भावनायै नमः।
3. ॐ ह्रीं अर्हं शीलव्रतेष्वनतिचार भावनायै नमः।
4. ॐ ह्रीं अर्हं अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावनायै नमः।
5. ॐ ह्रीं अर्हं संवेग भावनायै नमः।
6. ॐ ह्रीं अर्हं शक्तितस्त्याग भावनायै नमः।
7. ॐ ह्रीं अर्हं शक्तितस्तप भावनायै नमः।
8. ॐ ह्रीं अर्हं साधुसमाधि भावनायै नमः।
9. ॐ ह्रीं अर्हं वैयावृत्यकरण भावनायै नमः।
10. ॐ ह्रीं अर्हं अर्हद्भक्ति भावनायै नमः।
11. ॐ ह्रीं अर्हं आचार्यभक्ति भावनायै नमः।
12. ॐ ह्रीं अर्हं बहुश्रुतभक्ति भावनायै नमः।
13. ॐ ह्रीं अर्हं प्रवचनभक्ति भावनायै नमः।
14. ॐ ह्रीं अर्हं आवश्यकापरिहाणि भावनायै नमः।
15. ॐ ह्रीं अर्हं मार्गप्रभावना भावनायै नमः।
16. ॐ ह्रीं अर्हं प्रवचनवत्सलत्व भावनायै नमः।